भगवान महावीर का धर्मचक्र जगत का कल्याण करो

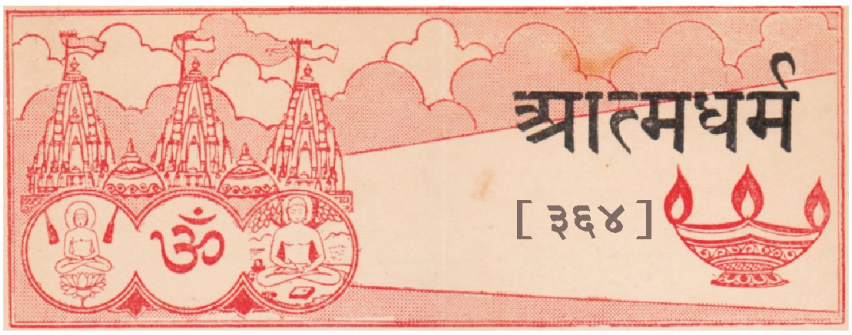

❋ प्रशममूर्ति भगवती पूज्य बहिनश्री चंपाबहिन ❋

(भाद्रपद शुक्ला दोज—६२वीं जन्मजयंती)

वैरागी अंतर्मुखी, मंथन पारावार;
ज्ञाता का तल स्पर्श कर, किया सफल अवतार।

तंत्री—पुरुषोत्तमदास शिवलाल कामदार संपादक—ब्रह्मचारी हरिलाल जैन
वीर सं. २५०१ श्रावण (वार्षिक चंदा रुपये ६=००) वर्ष ३१ अंक-४

जन्मवधामणां

[राग — पुरनी मोरलो ही राज]

जन्मवधामणां हो राज! हैडां थनगन थनगन नाचे;
जन्म्यां कुंवरी चंद्रनी धार, मुखडां अमीरस अमीरस सींचे।

(साखी)

कुंवरी पोढे पारणे, जाणे उपशमकंद;
सीमंधरना सोणले मन्द हसे मुखचंद।

हेते हींचोळतां हो राज! माता मधुर मधुर मुख मलके;
खेले खेलतां हो राज! भावो सरल सरल उर झळके.... जन्म०

(साखी)

बाळावयथी प्रौढता, वैरागी गुणवंत;
मेरु सम पुरुषार्थथी देख्यो भवनो अंत।

हैयुं भावभीनुं हो राज! हरदम 'चेतन' 'चेतन' धबके;
निर्मल नेनमां हो राज! ज्योति चमक चमक अति चमके।.... जन्म०

(साखी)

रिद्धिसिद्धि-निधान छे गंभीर चित्त उदार;
भव्यो पर आ काळमां अद्‌भुत तुज उपकार।

चम्पो म्होरियो हो राज! जगमां मघमघ मघमघ म्हेके;
'चम्पा'-पुष्पनी सुवास; अम उर मघमघ मघमघ म्हेके... जन्म०

❀ आनंददायिनी जन्मजयंती ❀

भाद्रपद कृष्णा दोज (गुजराती श्रावण कृष्णा दोज) प्रशममूर्ति भगवती पूज्य बहिनश्री चंपाबहिन की जन्मजयंती का मंगल दिन है।

तीर्थनायक श्री महावीर भगवान का ढाईहजार-वर्षीय निर्वाणमहोत्सव सानंदोल्लास समग्र भारतवर्ष में मनाया जा रहा है। देवाधिदेव सर्वज्ञवीतराग परमहितौपदेशी श्री जिनेन्द्र भगवान की दिव्यध्वनि द्वारा बहा हुआ परम पावन अध्यात्मप्रवाह कि जो वीर निर्वाण की २५वीं शताब्दी में लुप्तप्राय हो गया था, उस मंगल प्रवाह को पुनर्जीवित करनेवाले अध्यात्मयुगस्रष्टा आत्मज्ञसंत परमोपकारी पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी की सम्यक्त्वजननी शुद्धात्मदर्शी सातिशय विमल वाणी के सुप्रताप से जिन्होंने लघुवय में अपनी अन्तःपरिणति स्वरूपोन्मुख करके, ज्ञानवैराग्यमय अमृतबोध को अपने जीवन में उतारकर अनुपम आत्मसाधना की है, और जिनकी धीर-गंभीर निर्मल स्वानुभूतिमय पवित्र दशा की पूज्य गुरुदेव प्रवचनसभा में कई बार गरिमापूर्ण प्रशंसा करते है तथा 'भगवती', 'जगदंबा' आदि महिमाद्योतक असाधारण विशेषणों से विशेषित करके जिनके अप्रतिम आदर्श जीवन के प्रति समस्त मुमुक्षु समाज को गुरुदेव ने श्रद्धा, भक्ति और बहुमान जागृत किया है, उन प्रशांतमूर्ति भगवती पूज्य बहिनश्री चंपाबहिन का भी, पूज्य गुरुदेव के साथ, अपनी मुमुक्षु-समाज पर महान उपकार है।

पूज्य बहिनश्री, अपने मुमुक्षु समाज की अनुपम धर्मरत्न हैं। आत्ममंथन, सुदृढ़ तत्त्वश्रद्धा और अतीन्द्रिय आनंदस्रवी निजानुभूति से आपका सुसमृद्ध पावन

अंतर्वैभव गहन और महान है; अविचलित चेतनाविलास से विभूषित आपकी अध्यात्मधारा दुर्गम है; ख्याति-लाभ-पूजा आदि बाह्य तरल तथा तुच्छ वृत्तियों से अलिप्त, अति पवित्र, सहज ज्ञानवैराग्यमय आपका जीवन है; सातिशय अन्तःपुरुषार्थ द्वारा आविर्भूत आपकी सुविशुद्ध दशा गौरवपूर्ण है; और मति की निर्मल एकाग्रता से प्राप्त हुआ आपका जातिस्मरणज्ञान भी चमत्कारपूर्ण है। जिसप्रकार आपकी आंतरिक पवित्रता—स्वानुभूतिमंडित अंतःसाधना—साधक का आदर्श है, उसीप्रकार आपका वास्तवस्पर्शी स्मरणज्ञान और उसके द्वारा सुस्मृत, गत भव में श्री सीमंधरनाथ की सभा में प्रत्यक्ष श्रवण किया हुआ, पूज्य गुरुदेव के भवों का आश्चर्यकारी महिमापूर्ण संधिवृत्त मुमुक्षु समाज को महान उपकाररूप है।

पूज्य बहिनश्री ने स्वानुभूतियुक्त जातिस्मरणज्ञान द्वारा हम सबको पूज्य गुरुदेव के तीर्थंकरद्रव्यत्व की पहिचान कराकर, गुरुदेव की चमत्कारिक विशेषताओं को प्रकाशित कर उनकी लोकोत्तर महिमा प्रसिद्ध की है; हम सबमें गुरुदेव के प्रति अगाध श्रद्धा, भक्ति तथा बहुमान प्रज्वलित किया है। अहा! सनातन जिनेन्द्रमार्ग की सत्यता के साक्षीभूत सातिशय विमल ज्ञान के द्वारा जिनशासन की इसप्रकार अनुपम प्रभावना करके पूज्य बहिनश्री ने हम सब पर वास्तव में असाधारण उपकार किया है।

ऐसे अनेकविध उपकारों से आर्द्र भक्तहृदय पूज्य बहिनश्री के प्रति भक्ति-बहुमान व्यक्त करने को—उनकी जन्मजयंती का सुअवसर मनाने को—उल्लसित हो उठे, वह स्वाभाविक है।

अहा! स्वानुभूतिसंपन्न एकभवतारी शक्रेन्द्र भी यदि ठाठमाठ से रचित 'तांडव लीला' के द्वारा बालतीर्थंकर की अति उल्लासपूर्ण भक्ति करते हैं, तो प्राथमिक-भूमिकोन्मुख मुमुक्षुगण जन्मजयंती जैसे मंगल अवसर पर उपकारी की भक्ति को कैसे भूलें?—'न हि कृतमुपकारं साधवो विस्मरन्ति।' ऐसे अवसर पर तो भक्तजन तन-मन-धन से सर्वस्वार्पणभाव से नाच उठते हैं। निर्मल रत्नत्रय के आराधक शुद्धात्मानुभूति संपन्न उपकारी धर्मात्मा की यथार्थलक्षी विविध भक्ति के ऐसे विशेष प्रसंग पर भक्त हृदय आनंदविभोर होकर अंतर्बाह्य उमड़ पड़े उसमें आश्चर्य क्या?

यह मंगल महोत्सव समस्त मुमुक्षु समाज ने सुवर्णपुरी में निम्न प्रकार मनायाः—

❀ वात्सल्यपर्व—श्रावणी पूर्णिमा—से प्रारंभ होनेवाले इस तीन दिन के जन्मोत्सव में, मंगल कामना के प्रतीकरूप, 'श्री पंच परमेष्ठी-मंडल विधान पूजा' सुरेन्द्रनगर निवासी श्री जगजीवनदास चतुरभाई शाह के परिवार की ओर से रचायी गई थी।

❀ उत्सव के तीनों दिन सुवर्णपुरी का नभमंडल सुमधुर गीतों से गूँजता था। उत्सव की सुशोभा के लिये श्री जिनमंदिर, परमागममंदिर, स्वाध्यायमंदिर तथा ब्रह्मचर्याश्रम पर रची गई विविधरंगी विद्युतज्योतियाँ मानों शुद्धात्मतरंगी, विमल-विज्ञानज्योतिर्धर के प्रशमस्यंदी तेजस्वी किरणों का लाभ लेने के लिये जगत को आमंत्रित कर रही हो, इसप्रकार अतिशय शोभायमान थीं।

❀ भाद्रपद कृष्णा दोज के—जन्मजयंती के—दिन प्रभात में प्रातःदर्शन के समय आनंदभेरी के साथ—

'जन्मबधाईना रे के सूर मधुर गाजे साहेलडी,
तेजवाने मंदिरे रे के चोघडियां वागे साहेलडी;
कुंवरीना दर्शने रे के नरनारी हरखे साहेलडी,
वीरपुरी धाममां रे के कुमकुम बसे साहेलडी॥''

— ऐसे जन्मबधाई के विविध सुमधुर गीतों से तथा जयजयकार के मंगल जादों से ब्रह्मचर्याश्रम आनंदविभोर होकर गूँजता था।

❀ बहिनश्री जब पूज्य गुरुदेव के प्रवचन में पधारीं, तब नौबतवादन तथा जयजयकार के गगनभेदी नादों से उनका स्वागत किया गया था। इस शुभ प्रसंग पर जमशेदपुर निवासी श्री हेमकुंवरबेन कामाणी ने तथा राजकोट निवासी श्री नानालालभाई जसाणी के परिवार ने परम आदरणीय पूज्य बहिनश्री के अध्यात्मज्ञान प्रतिभायुक्त तेजस्वी ललाट में केशर का तिलक करके, हीरा आदि विविध रत्नों से पूज्य गुरुदेव के मंगल सान्निध्य में विशाल मुमुक्षु समुदाय की उपस्थिति में उनका विशिष्ट भावपूर्ण सम्मान किया था। इस मनोहर प्रसंग का भक्तिपूर्ण दृश्य देखकर

प्रेक्षकों के हृदय आनंदोल्लास से नाच उठे थे; पूज्य गुरुदेव भी गद्‌गद् होकर आशीष भरी अमीदृष्टि से इस भक्तिदृश्य का प्रसन्नतापूर्वक अवलोकन कर रहे थे; मंगल गीत तथा हर्षोल्लासपूर्ण मधुर नादों से नभमंडल गूँज रहा था; प्रफुल्लता और प्रसन्नता से सबके हृदय आनंदविभोर हो गये थे।

❀ आज के जन्मोत्सव के मंगल प्रसंग पर पूज्य गुरुदेव ने प्रवचन के प्रारंभ में ही बहिनश्री की पवित्रता, निर्मल स्वानुभूति और जातिस्मरण ज्ञान को विशेष प्रकाशित करके आपकी महिमा प्रसिद्ध की थी। बहिनश्री को सं० १९८९ में स्वानुभूति प्रगट हुई थी; उस समय उन्हें पुरुषार्थ का बहुत बल था; सं० १९९३ में ध्यानमग्न दशा में से बाहर आने पर आपको जातिस्मरणज्ञान की प्रथम उत्पत्ति हुई थी; और इसके बाद धर्म के साथ संबंधवाली बहुतसी बातें जातिस्मरणज्ञान में खुली थीं—इत्यादि विषयों पर गुरुदेव ने प्रकाश डाला था। प्रसन्नचित्त से धीर-गंभीरतया पंद्रह मिनिट तक पूज्य गुरुदेव के श्रीमुख से बही हुई महिमाद्योतक अमृतवर्षा से मंत्रमुग्ध श्रोता-समुदाय अत्यधिक आनंदित हो गया था।

❀ प्रवचन के बाद श्री गिरधरलाल नागरदास शाह, श्री बाबूभाई चुनीलाल महेता, श्री चंपकभाई डगली तथा श्री मणिभाई मुनईवालों ने अपने-अपने संक्षिप्त वक्तव्य द्वारा पूज्य बहिनश्री को इस शुभ प्रसंग पर भावार्द्र श्रद्धांजलि समर्पित की थी। तत्पश्चात् जन्मजयंती की खुशी में मुमुक्षुओं द्वारा भक्तिपुष्परूप समर्पित '६२' के अंकवाली ऐसी ४०,००० से अधिक रुपये की रकमें ज्ञान प्रचार हेतु घोषित हुई थीं।

❀ पूज्य बहिनश्री की इस ६२वीं जन्मजयंती के शुभ अवसर पर संस्था को समर्पित की हुई कलाकृतियाँ—श्री सुरेशभाई संघवी की ओर से पूज्य गुरुदेव के भवों के यंत्रनिबद्ध घूमते हुए मनोहर रंगीन चित्र, श्री चंपकभाई डगली की ओर से दर्पण-काँच में उत्कीर्ण, सीमंधरनाथ की सभा में कुन्दकुन्दाचार्य के आगमन के समय विदेह के राजकुमार आदि की उपस्थिति दर्शाता हुआ कलामय सुंदर चित्र और श्री नानालालभाई जसाणी के परिवार की ओर से पूज्य बहिनश्री की मुद्रावाले चाँदी के सिक्के, इत्यादि दर्शनीय वस्तुएँ महोत्सव की शोभा में अभिवृद्धि करती थीं।

❀ आज के मंगल दिन बहिनश्रीबहिन के घर परम कृपालु गुरुदेव के मंगल

आगमन तथा आहारदान के आनंदकारी प्रसंग के पश्चात् आश्रम के स्वाध्यायभवन में, पूज्य बहिनश्री के पुनीत दर्शन से पावन होने तथा जन्मोत्सव-अभिवादन करने के लिये समस्त मुमुक्षु समाज आया था। इस प्रसंग पर मुमुक्षु भाईयों द्वारा कुछ आत्मार्थबोधक वचन सुनाने की प्रार्थना की जाने पर बहिनश्री ने पूज्य गुरुदेव की परम महिमा तथा उपकार प्रस्तुत करके गुरुदेव द्वारा बोधित स्व-पर भेदविज्ञान को तथा पर से भिन्न निजशुद्धात्मा को साधने की मुमुक्षु जीव की आंतरिक लगन आदि आत्मार्थ को स्पर्शती गंभीर बातें मधुर एवं सुंदर शैली से अति संक्षेप में कही थीं। अभिवंदना का यह शुभ प्रसंग भी भक्तिगीतों तथा जय-जयकार के नादों से चित्त को प्रसन्न करता था। अनन्यशरण धर्ममाता के प्रति सर्वस्वार्पणभाव से श्रद्धा-भक्ति द्वारा अभिव्यक्त होती हुई ब्रह्मचारी बहिनों की उमंग उत्सव को अधिक शोभायमान करती थी।

❀ इस आनंदोत्सव के हर्षोपलक्ष में आज सूरत निवासी श्री ब्रजलाल भाईलाल डेलीवालों की ओर से 'साधर्तीवात्सल्य' था। श्री हसमुखलाल कांतिलाल गाँधी बोटादवालों की ओर से श्रीफल की प्रभावना हुई थी।

❀ रात्रि को मुमुक्षु महिलासमाज में पूज्य बहिनश्री का अध्यात्मतत्त्वस्पर्शी प्रशमरस-झरता प्रवचन हुआ था; तत्पश्चात् पूज्य बहिन शांताबहिन के अध्यात्म प्रवचन के पश्चात् ब्रह्मचारी बहिनों एवं अन्य बहिनों द्वारा मांगलिक भक्तिगीत इत्यादि प्रस्तुत किये गये थे।

इसप्रकार भक्तजनों के द्वारा आज का यह मंगलमय उत्सव सुवर्णपरी में अत्यानंदोल्लासपूर्वक मनाया गया।

वार्षिक चंदा
छह रुपये
वर्ष ३१वाँ
अंक ४

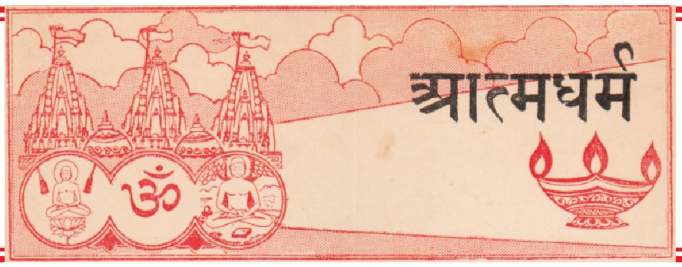

वीर सं. २५०१
श्रावण
इ.स. १९७५
सितम्बर

धर्मात्मा का उत्सव

धर्मात्मा का उत्सव माने आराधक जीव का उत्सव।
आराधक जीव का उत्सव माने आराधना का ही उत्सव॥

अभी भगवान महावीर के ढाई हजार वर्षीय-निर्वाणमहोत्सव के इस वर्ष में हमने अनेक तरह के धर्मोत्सव मनाया, एवं आगे और भी मनायेंगे। ऐसे उत्सव मनाते हुए हमें मोक्ष के प्रति, तथा सम्यक्त्वादि आराधना के प्रति विशेष बहुमान होता है, अपने को आराधना का लाभ होता है तथा उसमें वृद्धि होती है—यही है धर्मोत्सव का प्रयोजन।

भगवान जिनेन्द्रदेव के पंचकल्याणक उत्सव बहुत जीवों को आराधना के लाभ का निमित्त बनता है; और यह लाभ, मात्र राग के द्वारा नहीं किंतु उस समय उनके वीतरागीगुणों की पहचान का जो राग से अधिक ज्ञानभाव वर्तता है—उसी के कारण से होता है, और इसी से वह सम्यक्-उत्सव है। जन्मकल्याणक वगैरह उत्सवों के समय इंद्र के पास राग से अधिक, गुणों की सम्यक् पहचान का जो बल है—वही उसके उत्सव को मंगलरूप (कल्याणक) बना देता है। इसप्रकार धर्मात्मा के गुण की पहचान तथा ऐसे गुणों की अपने में उपलब्धि—यही धर्मात्मा के उत्सव का सम्यक् फल है। (वन्दे तद्गुणलब्धये।)

ज्ञानचेतनासंपन्न धर्मात्माओं का बहुमान मुमुक्षु के अंतर में किसी एक दिन नहीं परंतु सदैव ही रहा करता है। साधर्मी बंधुओं! हमारे प्रभु के निर्वाणोत्सव के इस मंगल अवसर में उनकी राग-द्वेष से पार ऐसी ज्ञानचेतना को पहचानो, उसका बहुमान करो, तथा स्वयं राग-द्वेष से दूर होकर ऐसी ज्ञानचेतनारूप बन जाओ। यही है वीरप्रभु की उपासना और यही है मंगल उत्सव! जय महावीर

अध्यात्मरस घोलन

'पाहुडदोहा' का अनुवाद [३]

१०१. जिसका चित्त सर्व रागों से, छह रसों से व पाँच रूपों में रंजित नहीं है, ऐसे योगी को हे जीव! तू इस भुवनतल में अपना मित्र बना।

१०२. जिसका तप थोड़ा भी शरीर का संग करके स्थित है (अर्थात् जो तप करते हुए भी शरीर का ममत्व रखता है) उस मनुष्य को भी मरण का दुस्सह दावानल सहन करना पड़ता है।

१०३. जब देह गलती है, तब मति-श्रुत की धारणा-ध्येय सब गलने लगता है; हे वत्स! तब उस अवसर में देव का स्मरण तो कोई विरले ही करते हैं।

१०४. जिसका पवित्र मन संसार के सुंदर पदार्थों से भाग कर, मन से पार ऐसे चैतन्यस्वरूप में लग गया—फिर वह कहीं भी संचार करे – तो भी उसे न भय है, न संसार।

१०५. जीवों के वध से नरकगति होती है और अभयप्रदान से स्वर्ग। जाने के लिये ये दो पथ तुमको बतला दिये, अब इनमें से जो अच्छा लगे उसमें तुम लग जाओ।

१०६. इस संसार में इंद्रियसुख तो दो दिन के हैं, फिर तो दुःखों की ही परिपाटी है; इसकारण हे हृदय! मैं तुझे सिखाता हूँ कि तेरे चित्त को तू बाड कर अर्थात् मर्यादा में रख, और उसको सच्चे मार्ग में लगा।

१०७. हे मूढ़! देह में रंजायमान न हो; देह आत्मा नहीं है। देह से भिन्न ज्ञानमय ऐसे आत्मा को तू देख।

१०८. अरे, यह मूर्त काया तो घास की झोंपड़ी जैसी है; हे योगी! उसमें जो प्राणवंत-चेतन निवास करता है, उसकी तू भावना कर।

१०९. मूल को छोड़कर जो डाल पर चढ़ना चाहता है, उसको योग अभ्यास कैसा? हे वत्स! जैसे बिना औंटे हुए कपास में से वस्त्र नहीं बुना जाता है,

उसीप्रकार मूलगुण के बिना उत्तरगुण नहीं होते।

११०. जिसके सर्व विकल्प छूट गये हैं और जो चेतनभाव को प्राप्त हुआ है, वह आत्मा निर्मल ध्यान में स्थित होकर परमात्मा के साथ केलि करता है।

१११. हे भव्य! परम देव को लक्ष में लेकर, शीघ्र आज ही तू मस्त हाथी को जीत ले—कि जिस पर चढ़कर परम मुनि सर्व गमनागमन से छूटकर मोक्षपुरी में पहुँच जाते हैं।

११२. हे मस्तहाथी! हे करभा! इस विषम भवसंसार की गति का जब तक तू उच्छेदन न कर डाले, तब तक निजगुणरूपी बाग में मुक्तरूप से तपरूपी बेल को तू चर... तेरे बंधन (-पैगाम) को खोल दिया है।

११३. जिसको तपरूपी दामन-लगाम है, व्रतरूपी चौकड़ा है, तथा शम-दमरूपी पलाण है-ऐसे ऊँट पर बैठक्र संयमधर निर्वाण को गये।

११४. एक तो स्वयं मार्ग को जानते नहीं, और दूसरे किसी से पूछते भी नहीं, ऐसे मनुष्य वन-जंगल तथा पहाड़ों में भटक रहे हैं—उनको तू देख।

११५. जो तरूवर रास्ता को छोड़कर दूर फला-फूला है, वह नकामा है, न तो कोई थके हुए पथिक यहाँ विश्राम लेते, और न उसके फलों को कोई हाथ लगाते। (उसीप्रकार मार्गभ्रष्ट जीवों का वैभव बेकार है।)

११६. षट्दर्शन के धन्धे में पड़े हुए अज्ञानियों के मन की भ्रांति न मिटी। अरे रे! एक देव के छह भेद किये, इससे वे मोक्ष नहीं जाते।

११७. एक अपने आत्मा को छोड़कर अन्य कोई तेरा बैरी नहीं है; अतः हे योगी! जिस भाव से तूने कर्मों का निर्माण किया है, उस परभाव को तू मिटा दे।

११८. यद्यपि मैं रोकता हूँ तो भी मन पर में जाता है—वह मन अपने में विषय को धारण करता है परंतु आत्मा को धारण नहीं करता। मन का विषयों में भ्रमण करने के कारण जीव नरकों के दुःखों को सहता है।

११९. हे जीव! तू ऐसा मत जान कि ये विषय मेरे हैं और मेरे रहेंगे। अरे, ये तो किम्पाकफल की तरह तुझे दुःख ही देंगे।

१२०. हे जीव! तू विषयों का सेवन करता है

किंतु वे तो दुःख के ही देनेवाले हैं; जैसे घी के डालने से अग्नि प्रज्वलित होती है, वैसे विषयों के द्वारा तू बहुत जल रहा है।

१२१. जिसने अशरीरी का संधान किया, वही सच्चा धनुर्धारी है और चित्त को एकाग्र करके जिसने शिवतत्त्व को साध लिया, वही सच्चा निश्चिंत है।

१२२. अरी सखी! भला ऐसे दर्पण को क्या करें?—जिसमें आत्मा का प्रतिबिंब न दिखे? मुझे तो यह जगत बहावरे सरीखा भासता है—कि जिसे गृहपति घर में होते हुए भी उसका दर्शन नहीं होता।

१२३. जिसके जीते जी पाँच इंद्रिय सहित मन मर गया उसको मुक्त ही जानो; निर्वाण-पथ उसने प्राप्त कर लिया।

१२४. हे वत्स! थोड़े ही काल में जो क्षय हो जाते हैं, ऐसे बहुत से अक्षरों को तुझे क्या करना है? मुनि तो जब अनक्षर (शब्दातीत-इंद्रियातीत) हो जाते हैं, तब मोक्ष को पाते हैं।

१२५. षट्दर्शन के ग्रंथों एक-दूसरे पर बहुत गरजते हैं; उन सबसे परे मोक्ष का जो एक कारण है, उसे तो कोई विरले ही जानते हैं।

१२६. हे वत्स! तू सिद्धांत को तथा पुराण को जान; उसके जानने से भ्रांति नहीं रहती। हे वत्स! जो आनंदस्वरूप में जम गये, वे सिद्ध कहलाते हैं।

१२७. इस लोक में शिव और शक्ति का मेला (मिलन) तो पशुओं में भी होता है; परंतु शिव से भिन्न शक्तिवाले शिव को तो कोई विरला ही पहिचानता है। (लोग तो पशु बगैरह में भी व्यापक ऐसे सर्वव्यापी शिव को मानते हैं, परंतु उससे भिन्न अपने आत्मा को ही शिवस्वरूप से तो कोई विरला ज्ञानी ही पहचानता है।)

१२८. जिसने देह से भिन्न निज परमार्थतत्त्व को नहीं जाना, वह अंधा दूसरे अंधे को मुक्तिपथ कैसे दिखलायेगा?

१२९. हे योगी! तुम देह से भिन्न आत्मा का ध्यान करो। यदि देह को अपना मानेंगे तो तुम निर्वाण नहीं पा सकेंगे।

१३०. सुगुरु की महान छत्रछाया पा करके भी हे जीव! तू सकल काल संताप को ही प्राप्त हुआ। परमात्मा निजदेह में बसते हुए भी तूने पत्थर के ऊपर पानी ढोला।

१३१. हे वत्स! सुगुरु का संग छोड़ के तू सदा काल झंखना-व्यग्रता मत कर। परमात्मा निजदेह में बसता हुआ भी तू शून्य मठ का सेवन क्यों करता है?

१३२. हे जीव! इस भुवनतल में तू ऐसे योगी को अपना मित्र बना कि जिसका चित्त राग के कलकल से, छह रस से तथा पाँचरूप से रंजित न हो।

१३३. समस्त विकल्पों को तोड़कर मन को आत्मा में स्थिर कर—वहाँ तुझे निरंतर सुख मिलेगा, और तू संसार को शीघ्र तिर जायेगा।

१३४. अरे जीव! तेरे मन में जिनवर को स्थाप, विषय-कषाय को छोड़; सिद्धि महापुरी में प्रवेश कर, और दु:खों को पानी में जलांजलि दे।

१३५. मुंड मुंडानेवालों में श्रेष्ठ हे मुंडका! तूने सिर का तो मुंडन किया परंतु चित्त को न मुंडा। जिसने चित्त का मुंडन किया, उसने संसार का खंडन कर डाला।

१३६. सर्वांग में जो सुस्थित है, उस धर्मात्मा को पाप क्या करेगा? उसीप्रकार जो परमार्थ का इच्छुक है, उस सज्जन को पुण्य का भी क्या काम है?

१३७. जो गमनागमन से रहित है और तीन लोक में प्रधान है—ऐसे देव की (तीर्थंकरदेव की) गरबी गंगा सूज्ञ पुरुषों के लिये सम्यग्ज्ञान प्रगट करनेवाली है।

१३८. पुण्य से विभव मिलता है, विभव से मद होता है, मद से मतिमोह होता है, और मतिमोह से नरक होता है।—ऐसा पुण्य हमें न हो। (यहाँ अज्ञानी के पुण्य की बात है।)

१३९. मैं जहाँ-जहाँ देखता हूँ, वहाँ सर्वत्र आत्मा ही दिखता है, तब फिर मैं किसकी समाधि करूँ और किसको पूजूँ? छूत-अछूत कहकर किसका तिरस्कार करूँ? हर्ष या क्लेश किसके साथ करूँ? और सन्मान किसका करूँ?

१४०. -यदि मन क्रोधाग्नि से कलुषित हो जाये तो, निरंजनतत्त्व की ऐसी भावनारूप निर्मलजल से आत्मा का अभिषेक करना कि—जहाँ-जहाँ देखूँ वहाँ कोई भी मेरा नहीं है; न मैं किसी

का हूँ, न कोई मेरा है। (ऐसी तत्त्वभावना के द्वारा क्रोध शांत हो जाता है।)

१४१. हे जिनवर! जब तक मैंने देह में रहे हुए 'जिन' को न जाना, तब तक तुझे नमस्कार किया; परंतु जब देह में ही रहे हुए 'जिन' को जान लिया तब फिर कौन किसको नमस्कार करे.. ?

१४२. जीव को संकल्प-विकल्प तब तक रहता है, जब तक कि शुभाशुभजनक कर्म का अकर्ता होकर उसके अंतर में आत्मस्वरूप की सिद्धि स्फुरायमान न हो जावे।

१४३. (१) हे जीव! लोग तेरे को 'हठीला हठीला' कहते हैं तो भले कहो, किंतु हे हठी! तू क्षोभ मत करना। (अर्थात् लोग तेरे को हठीला कहे-इससे तू तेरे मार्ग को नहीं छोड़ना!) तू मोह को ऊखाड़ कर सिद्धि-महापुरी में चले जाना।

(२) घेला लोग तेरे को भी घेला-पागल-सा कहे तो इसी से तू क्षुब्ध नहीं होना। लोग कुछ भी कहे, तू तो मोह को उखाड़कर महान सिद्धिनगरी में प्रवेश करना।

१४४. जीवों का वध न करो और अन्य को जरा भी अन्याय न करो, इतनी बात चित्त में लिख लो और मन में धारण कर लो - बस, फिर तुम निश्चिंत पाँव पसार कर सोओ!

१४५. बहुत अटपट बड़बड़ाने से क्या? देह आत्मा नहीं है। देह से भिन्न जो ज्ञानमय है-वही तू आत्मा है, हे योगी! उसका तू देख!

१४६. मन ही जिसका अशुद्ध है, उसे पोथा पढ़ने से भी मोक्ष कैसा है?—वैसे तो हिरन का वध करनेवाला पारधि भी हिरन के सामने नमता है। (जैसे भावशुद्धि से रहित उस पारधि का वह नमन, सच्चा नमन नहीं हैं, वैसे भावशुद्धि से रहित शास्त्रपठन भी मोक्ष का कारण नहीं होता। अतः हे जीव! तू भावशुद्धि कर।)

१४७. जैसे बहुत पानी के विलोडने से हाथ चिकना नहीं होता (अर्थात् घी नहीं निकल पाता), वैसे दया से रहित धर्म ज्ञानियों ने कहीं भी नहीं देखा।

१४८. दुष्टजन-खल के संग से भले पुरुषों के गुण भी नष्ट हो जाते हैं—जैसे लोहे का

संग करने से वैश्वनार (अर्थात् अग्निदेव) भी बड़े-बड़े घनों से पीटे जाते हैं।

१४९. अग्नि भी शंख के धवलत्व को नष्ट नहीं कर सकता; परंतु यदि वह स्वयं खेर या काई से मिल जाये तो उसका धवलत्व मिट जाता है, इसमें भ्रांति न कर। (अत: कुसंगति न करना।)

१५०. शंख के पेट में रहे हुए मुक्ताफल मोती के कारन से उसकी ऐसी हालत होती है कि धीवर-माछीमार उसका गला फाड़कर उस मोती को बाहर निकालता है। (इसप्रकार परिग्रह से जीव दु:खी होता है।)

आत्मधर्म—

❋ वार्षिक मूल्य छह रुपये है।

❋ वर्ष का प्रारंभ वैशाखमास से होता है; आप अब भी ६) भेजकर ग्राहक बन सकते हैं, आपको पिछले अंक (वैशाख से अभी तक) भी भेजा जायेगा। प्रति मास (अंग्रेजी) की ५ तारीख को अंक भेजा जाता है।

पता—आत्मधर्म कार्यालय, सोनगढ़ (३६४२५०)

शुभराग में भी दु:ख किसको लगे ?

राग से रहित शांति का वेदन जिसने किया हो उसे राग में दु:ख लगता है। राग और चैतन्य की भिन्नता को जिसने जान लिया उसको, चैतन्य के शांतरस के महान सुख के सामने, समस्त रागभाव अशांत एवं दु:खरूप ही दिखता है। अशुभ की तरह शुभराग भी जिसे दु:खरूप नहीं लगता, उसने चैतन्य की वीतरागी शांति के सुख का अनुभव ही नहीं किया। इसप्रकार यथार्थत: ज्ञानी को ही राग दु:खरूप लगता है। अज्ञानी के भी राग का वेदन तो दु:खरूप ही है, परंतु भ्रमणा से वह उस राग में सुख समझ लेता है, और इसी कारण से वह रागरहित शांतरस का अनुभव नहीं कर पाता।

हमारे पाठकों के पत्र, शंका-समाधान एवं तत्त्वचर्चा

[सभी जिज्ञासुओं का प्रिय विभाग]

[आप भी जिज्ञासुभाव से इस विभाग में भाग ले सकते हो।
आपकी उचित शंकाओं का समाधान इस विभाग में दिया जायेगा। —सं.]

* प्रश्नः—द्रव्य अपनी पर्याय को नहीं करता-इसका क्या अभिप्राय है ?

उत्तरः—यद्यपि पर्याय का कर्ता कोई अन्य नहीं परंतु स्वद्रव्य स्वयं ही परिणमित होकर अपनी पर्याय को करता है—स्वयं ही उस पर्यायरूप होता है—किंतु, द्रव्य-पर्यायस्वरूप एक ही वस्तु है, उसमें यह कर्ता और यह कार्य—ऐसा भेद क्यों करना ? जबकि द्रव्य तथा पर्याय अभेदता से एकरूप हैं, तब उसमें द्रव्य पर्याय को करता है—ऐसा भेद नहीं रहता। इसप्रकार अभेददृष्टि में द्रव्य-पर्याय के बीच में कर्ता-कर्म का भेद भी नहीं है; दोनों में अनन्यपना है। समयसार सूत्र ३०८-३०९ में आचार्यदेव ने यह वस्तुस्वरूप दिखलाया है कि—जीव अथवा अजीव जो भी द्रव्य अपनी जिस-जिस पर्यायरूप से उत्पन्न होता है, उस-उस पर्याय से उसको अनन्य जानो। सभी द्रव्य क्रमबद्ध होनेवाली अपनी-अपनी पर्यायों से अनन्य होता है।

एक ही सत् वस्तु में अंश-अंशी के भेद से, या स्व-स्वामी के भेद से, या कर्ता-कर्म के भेद से क्या प्रयोजन है ? आत्मा की शुद्ध अनुभूति में ऐसा कोई भेद नहीं दिखता। जिसके उत्पाद-व्यय-ध्रुव में एक चैतन्यभाव ही प्रकाशमान है—सतत ऐसे चैतन्यभावरूप अपने को धर्मी जीव अनुभव में लेता है।—ऐसे सर्वोपरि तत्त्व की अनुभूति यही साध्य की सिद्धि है—[न खलु न खलु यस्मात् अन्यथा साध्यसिद्धि।]

* प्रश्नः—धन्य कौन है ?

उत्तरः—सर्वज्ञस्वभावी अपने आत्मा को जानकर जिसने सम्यक्त्व धारण किया, वह जीव धन्य है। कुन्दकुन्दस्वामी भी ऐसे जीव को धन्यवाद देते हुए कहते हैं कि—

सम्यक्त्व-सिद्धिकर अहो! नहीं स्वप्न में दूषित है,
वे धन्य है, कृतकृत्य है, शूर-वीर है, पंडित हैं।

* प्रश्नः—केवली भगवान के गुणों की स्तुति कैसे होती है ?

उत्तरः—जो अतीन्द्रिय ज्ञानरूप हुए हैं, ऐसे सर्वज्ञ की स्तुति अतीन्द्रियज्ञान से ही होती है, इंद्रिय से या राग से नहीं होती। इसप्रकार आत्मा के ज्ञानस्वभाव में एकाग्रता के द्वारा मोह को जीतकर केवलीभगवान की सच्ची स्तुति होती है। उनके जैसे गुणों की अपने में उपासना, यही उनकी स्तुति है। 'वन्दे तद्गुणलब्धये' अर्थात् जिसमें गुण की लब्धि है, वही सत्य वंदन, स्तुति तथा उपासना है।

* प्रश्नः—गृहस्थ-सम्यग्दृष्टि का आत्मा कहाँ रहता है ?

उत्तरः—यथार्थतः स्वघर ऐसा जो अपना शुद्ध चैतन्यतत्त्व उसके द्रव्य-गुण-पर्याय में ही धर्मात्मा का वास है; राग में या पर में अपना वास वे नहीं मानते, उसे तो वे परघर समझते हैं।

* प्रश्नः—क्या गृहस्थाश्रम में रहे हुए जीव को भी आत्मा का अनुभव तथा ध्यान होता है ?

उत्तरः—हाँ; धर्मी को गृहस्थपने में भी आत्मा का अनुभव तथा ध्यान होता है, इसके बिना सम्यग्दर्शन ही नहीं हो सकता। गृहस्थ के पाँच गुणस्थान माने गये हैं, उनमें चौथे गुणस्थान में ही आत्मअनुभव हो जाता है, और तब से जीव सच्चा जैनधर्मी बनता है; इसके बाद व्रती होकर पंचम गुणस्थान की शुद्धता प्रगट करके वह धर्मात्मा-श्रावक बनता है; तथा मुनिदशा तो इससे भी ऊँची है। सम्यग्दर्शन तथा आत्मअनुभव के बिना ऐसी कोई दशा नहीं हो सकती।

हमें ऐसी आत्मअनुभूति का स्वरूप दिखानेवाला वीरशासन महाभाग्य से प्राप्त हुआ है; तो महावीर भगवान के यह २५०० वर्षीय निर्वाणमहोत्सव में ऐसी आत्मअनुभूति अवश्य कर लेना चाहिये और सम्यक्त्वादि के द्वारा आत्मजीवन को उज्ज्वल बनाकर जैनशासन की सान बढ़ाना चाहिये।

* पर्याय से रहित एकांत ध्रुव का ध्यान हो सकता है क्या ?

ना; ध्यान तो 'सत्' का होता है; और 'सत्' तो उत्पाद-व्यय-ध्रुवस्वरूप ही होता है।—ऐसा तो कोई सत् पदार्थ नहीं है कि जो एकांत ध्रुव हो। (उत्पाद-व्यय-

ध्रौव्ययुक्तं सत्) ऐसे सत् का श्रद्धान, सो तत्त्वार्थश्रद्धान है, और ऐसे तत्त्वार्थ श्रद्धानपूर्वक सच्चा ध्यान होता है।

जहाँ ध्याता-ध्यान-ध्येय का भेद न रहे, वहाँ ही सत्य ध्यान है।
जहाँ ध्येय-ध्यान-ध्याता का भेद है, वहाँ ध्यान नहीं है॥
जहँ ध्यान ध्याता ध्येय को न विकल्प वच भेद न जहाँ;
चिद्भाव कर्म, चिदेश कर्ता, चेतना किरिया तहाँ।
तीनों अभिन्न अखिन्न शुद्ध उपयोग की निश्चल दशा;
प्रगटी जहाँ दृग-ज्ञान-व्रत ये तीनधा एके लसा॥६-९॥ छहढाला

* शंका:—द्रव्य-गुण-पर्याय के बीच किसी प्रकार से प्रदेशभेद हैं क्या?

समाधान:—ना; इनके प्रदेशभेद नहीं हैं; क्योंकि द्रव्य स्वयं ही अपने गुणपर्यायस्वरूप है, तथा गुण-पर्याय स्वयं ही अपने द्रव्यस्वरूप है। द्रव्य-गुण-पर्याय का अस्तित्व एक है, भिन्न-भिन्न तीन अस्तित्व नहीं हैं। एक ही अस्तित्व का यह सब विस्तार है। (प्रवचनसार)

* अहो, जैन संतों ने वीतरागी जिनवाणी में स्वानुभव करने के लिये बहुत ही सुंदर ढंग से आत्मा का स्वरूप समझाया है; आत्मा की अद्भुत महिमा दिखाकर ऐसी सरस प्रेरणा दी है कि आज और अभी तुम ऐसा स्वानुभव करो.... तुम्हें तत्काल ही महान आनंद होगा। अहा, इसके श्रवण में भी स्वानुभव की भावना पुष्ट होती है; जीवन का सर्वस्व, मुमुक्षु का एकमात्र ध्येय स्वानुभव है और ऐसा स्वानुभव इस कठिन काल में भी प्रत्यक्षीभूत संतजनों के प्रताप से सुगम बन गया है।

* स्वानुभव की चर्चा सुनते तथा अंतर में उसका प्रयोग करते-करते चैतन्यरस का घोलन बढ़ता जाता है, और राग का रस टूटता जाता है।—आगे चलकर इसी धारा की पराकाष्टा होने पर भेदज्ञान होकर अपूर्व आनंदमय निर्विकल्प स्वानुभूति होती है, मोक्ष का मार्ग खुल जाता है।

* प्रश्न:—भाई! मुझे आत्मअनुभूति के लिये बहुत उत्कंठा हो रही है, तो इसके लिये मैं क्या करूँ?

उत्तर:—अपने अंतर में बहुत गंभीर आत्मस्वरूप की आनंदमय अनुभूति करने के लिये, अत्यंत शांतिचत्त होकर, सारे संसार के झंझट छोड़कर, परिणाम को अन्य सबसे हटाकर, आत्मा में बहुत ही ऊँडे उतरकर देखो.... सतत् इसी के प्रयत्न में लगे रहो... आत्मअनुभूति होगी ही होगी। आत्मा की परम शांत सुंदरता देखते ही तुम्हें परम तृप्ति होगी... तुम्हारी भावना पूरी हो जायेगी।

* आनंदमय आत्मा अपने में ही जिसको प्रसिद्ध हुआ है, फिर बाह्य में अन्य प्रसिद्धि का उसे क्या काम है? और बाह्य संसार में चाहे जितनी प्रसिद्धि हो किंतु यदि अपने अंतर में आत्मा के आनंद की प्रसिद्धि न हुई तो उसे आत्मा का कौन सा लाभ हुआ?

* भूखे रहना अच्छा किंतु रात्रि का खाना अच्छा नहीं। प्यासे रहना, किंतु अनछना पानी मत पीना। कितनी भी प्रतिकूलता हो–उसे सहन कर लेना–किंतु जैनधर्म को छोड़कर अन्यत्र कहीं मत जाना।

[लेखांक : ८]

समाधिशतक के ३८वें श्लोक में श्री पूज्यपाद स्वामी ने कहा है कि जिसका चित्त अपने चैतन्य में स्थिर नहीं है, उसको ही मान-अपमान संबंधी विकल्प सताते हैं; मान-अपमान के विकल्प दूर करने का उपाय यही है कि चित्त को अपने चैतन्यस्वरूप में स्थिर करना। बाहर में घूमनेवाला चित्त मान-अपमान के प्रसंग में दुःखी हुए बिना नहीं रहता; किंतु ऐसे प्रसंग में यदि चित्त को स्वस्थ करके शुद्ध आत्मा की भावना में लगाया जाये तो तत्क्षण ही राग-द्वेष शांत हो जाते हैं। इसप्रकार स्वोन्मुख होकर आत्मा की भावना करना—यही मान-अपमान संबंधी राग-द्वेष को जीतने का उपाय है।

प्रथम तो, रागादि से रहित एवं पर से रहित अपने शुद्ध ज्ञानानंदस्वरूप को पहचानना चाहिये। पश्चात् अंतर्मुख उपयोग के द्वारा उसको ही बारबार भाने से राग-द्वेष अलोप हो जाते हैं, और तत्काल उपशांतरस की धारा बहने लगती है—इसी का नाम है वीतरागी समाधि! बिना सम्यग्ज्ञान के ऐसी समाधि या शांति नहीं होती।

जीव को शांति के लिये अंतर में लगन लगनी चाहिए कि मेरे आत्मा को शांति कैसे हो? शांति के वेदन के बिना अन्यत्र कहीं उसे चैन नहीं पड़े। अरे जीव! तेरे आत्मा के सिवाय अन्य कोई तेरा शरण नहीं है। अंतर में एक समय में ज्ञानानंद से परिपूर्ण सत् ऐसा तेरा आत्मा ही तेरा शरण है, उसकी तू पहचान कर।

दो सगे भाई हों; पाप करके एकसाथ दोनों नरक में गये हों; उनमें एक सम्यग्दृष्टि हो, दूसरा मिथ्यादृष्टि हो; सम्यग्दृष्टि के तो नरक की घोर प्रतिकूलता के बीच में भी चैतन्य की थोड़ी शांति का वेदन रहता है; जबकि मिथ्यादृष्टि तो अकेले संयोग के सामने ही देखता हुआ दुःख की वेदना में तड़फता है; वह अपने भाई से (-सम्यग्दृष्टि से) कहता है—अरे भाई! यहाँ कौन

शरण? इस घोर दु:ख में कोई सहायक नहीं दिखता। अरे, कौन इस वेदना से हमें छुड़ावे?—हाय! यह असह्य वेदना से कोई बचाओ...!

तब समकिती भाई उसे कहता है कि अरे बंधु! कोई सहायक नहीं है। अंतर में भगवान चैतन्य ही आनंद से भरा है, उसकी भावना ही इस भवदु:ख से छुड़ानेवाली है। चैतन्यभावना के सिवाय अन्य कोई दु:ख से बचानेवाला नहीं है, अन्य कोई सहायक नहीं है। यह देह तथा यह प्रतिकूल संयोग—इन सबसे पार चैतन्यस्वरूप आत्मा है,—ऐसे भेदज्ञान की भावना के बिना जगत में अन्य कोई दु:ख से बचानेवाला नहीं है, कोई शरण देनेवाला नहीं है। अत: हे भाई! तुम एकबार संयोग को भूल जाओ... और अंदर में चैतन्यतत्त्व आनंदस्वरूप है, उसकी ओर देखो। एक यही शरण है। पूर्वभव में आत्मा की दरकार नहीं की, पाप करने से पीछे हट नहीं की, इस कारण यहाँ नरक में अवतार हुआ। अब इसी स्थिति में हजारों-लाखों वर्ष का आयु पूरा करना ही होगा। संयोग नहीं पलटेगा, तुम्हारे लक्ष को पलट दो। संयोग से आत्मा भिन्न है, इसके ऊपर लक्ष करो। तुम्हारा दु:ख संयोग के कारण से नहीं है, किंतु अपने आनंद को भूलकर स्वयं तुमने ही मोह से दु:ख उत्पन्न किया है, अत: एकबार संयोग को आत्मा से भिन्न जानकर उसकी भावना छोड़ो और चैतन्य की भावना करो। मैं तो ज्ञानमूर्ति—आनंदमूर्ति हूँ, ये संयोग तथा दु:ख दोनों से भिन्न मेरा आत्मस्वभाव ज्ञान-आनंद का धाम है;—ऐसा आत्मनिर्णय करके उसकी भावना करने से ही दु:ख का नाश होगा।

चैतन्य की भावना में कभी दु:ख का प्रवेश नहीं होता; चैतन्यस्वरूप आत्मा की भावना में आनंद का ही वेदन है; उसमें एकाग्र होकर रहना यही दु:ख से छूटने का उपाय है। कषायों से संतप्त आत्मा को अपने शुद्धस्वरूप का चिंतन ही शांति देनेवाला है। अत: 'जिनेन्द्रबुद्धि' श्री पूज्यपादस्वामी कहते हैं कि—हे अंतरात्मा! राग-द्वेषादि विभावों की उत्पत्ति को रोकने के लिये स्वस्थ होकर शांतचित्त से तुम आत्मा की भावना करो... उसके चिंतन से तुम्हारा विभाव क्षणमात्र में शांत हो जायेगा।

अज्ञानी जीव को सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के लिये भी चैतन्य की भावना करना, यही उपाय है। जैसे तीव्र आताप से संतप्त प्राणी वृक्ष की शीतल छाया में आश्रय लेते हैं, वैसे इस संसार के घोर संताप से संतप्त जीवों को चिदानंदस्वभाव की शीतल छाया ही शरणरूप है, उसी के आश्रय से शांति मिलती है।

धर्मात्मा अपने हैं कि अहो, मेरे चैतन्यवृक्ष की छाया ऐसी शांत-शीतल है कि उसमें मोहसूर्य के संतप्त किरन का प्रवेश नहीं हो सकता। अतः मोहजनित विभावों के आताप से बचने के लिये मैं मेरे शांत-शीतल-उपशांत-आनंदरसमय चैतन्यतत्त्व की छाया में ही जाता हूँ—ऐसे चैतन्यस्वभाव की ही भावना करता हूँ।

जड़-शरीर का प्रेम छोड़.... ज्ञायक शरीर में प्रेम जोड़!

समाधिशतक श्लोक ४० में कहते हैं कि हे जीव! राग-द्वेष के निमित्तरूप जो अचेतन शरीर, उसका प्रेम छोड़, और उससे भिन्न जो अपना उत्तम ज्ञायकशरीरी आत्मा-उसमें प्रेम जोड़।

शुद्धात्मस्वरूप में चित्त लगाने से, उससे बाह्य ऐसे शरीरादि का स्नेह नष्ट हो जाता है। चैतन्य के आनंद में जिसका चित्त लगा, उसका चित्त जगत के किसी भी विषय में नहीं लगता। चैतन्य के अतीन्द्रिय आनंदरस के पास में संसार के सभी रस नीरस लगते हैं; चैतन्य के प्रति उत्साह होकर देहादि की क्रिया का उत्साह छूट जाता है। जब तक इस जीव को अपने निजानंदमय निराकुल शांत उपवन में क्रीड़ा करने का अवसर नहीं आया, तब तक ही वह मल-मूत्र एवं माँसादि से भरपूर अपवित्र शरीर में तथा इंद्रियविषयों में आसक्त रहकर क्रीड़ा करता है। परंतु पुरुषार्थ के अपूर्व अवसर में जब वह जीव सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है और उसका विवेकज्ञान जागृत होता है, तब वह अपने उपशांत चैतन्यवन में निजानंदमय सुधारस का पान करने लगता है, और बाह्य इंद्रियविषयों को अत्यंत नीरस, पराधीन तथा हेय समझकर उनसे अत्यंत उदासीन हो जाता है। बारबार चैतन्य के अनुभव में उपयोग लगाने से, बाह्यपदार्थ का प्रेम सर्वथा छूटकर वीतरागता हो जाती है और पूर्णानंद को पाकर वह जीव स्वयं परमात्मा बन जाता है। अतः हे मुमुक्षु! तुम भी अपना उपयोग बारबार चैतन्यस्वरूप में लगाओ।

अहा, कोई भावलिंगी संत-मुनि के समाधिमरण का प्रसंग हो, निकट में अन्य मुनि बैठे हों, तब वीतरागी आराधना का एक अनोखा उत्सव लग जाता है। वहाँ उस क्षपकमुनि को अनेक दिवस से आहार-जल का त्याग हो चुका

हो, गर्मी के दिन हो; ऐसे प्रसंग में उस मुनि को कदाचित पानी की वृत्ति का उत्थान हो और वह पानी को याद करे... तब अन्य मुनि उसको अत्यंत वात्सल्य से वैराग्यसंबोधन करके शूरवीरता जगाते हैं कि अरे मुनिराज! अंतर में जाकर निर्विकल्परस का अमृत पीओ... और पानी की इस वृत्ति को छोड़ दो... अभी तुम्हारे समाधि का अवसर है। अनंत बार समुद्र जितना जलपान किया, फिर भी तृषा न मिटी, अतः उस जल को अब भूल जाओ... और अंतर के निर्विकल्प अमृत का पान करो... आराधना में शूरवीर बनकर निर्विकल्प आनंद में लीन हो जाओ; अभी उसका अवसर है।

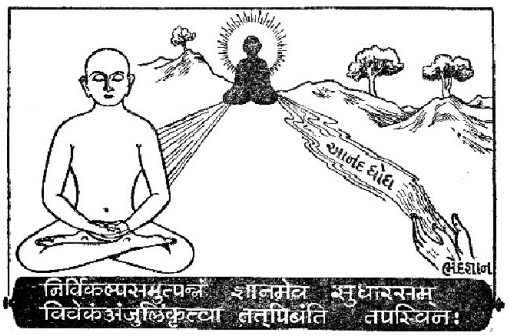

तब वह मुनिराज भी पानी की वृत्ति को तोड़कर अतीन्द्रिय आनंद का निर्विकल्प अमृत पीने लगते हैं।

निर्विकल्प चैतन्यगुफा में से झरनेवाले आनंदमय ज्ञान-सुधारस को भेदज्ञान की अंजलि भर-भरके मुनिवर पीते हैं।

समाधि-मरण के उन्मुख क्षपकमुनि को रत्नत्रय की अखण्ड आराधना में उत्साहित करने के लिये, तथा उपसर्ग-परीषहादि से रक्षा करने के लिये, अन्य मुनिराज (निर्यापक आचार्यादि) वीतराग उपदेशरूपी कवच पहिनाते हैं; उसका अद्भुत भावपूर्ण वर्णन भगवती आराधना के कवच-अधिकार में शिवकोटि आचार्य ने किया है। वह पढ़ते समय आराधक मुनिवरों का समूह नजर समक्ष ही दिखने लगते हैं, और अंतर में ऐसी उर्मियाँ उठती हैं—मानों वे मुनिराज आराधना के उपदेश की कोई अखंड धारा बहा रहे हों। अहा, उन आराधक साधु भगवंतों के प्रति हृदय नम्रीभूत हो जाता है; तथा आराधना के प्रति अचिन्त्य महिमापूर्वक बहुमान आता है।

प्रश्नः—राग-द्वेष मिटाने का उपाय क्या है?

उत्तरः—चैतन्यस्वरूप में उपयोग को लगाना, यही राग-द्वेष मिटाने का उपाय है। इसके बिना बाह्यपदार्थ की सम्मुखता से राग-द्वेष मिटाना चाहे तो वह कभी नहीं मिट सकता। देहादि से भिन्न एवं परमार्थतः रागादि से भी भिन्न ऐसे चिदानंदस्वरूप का भान जिसने किया हो, उसको

उसमें उपयोग की लीनता होती है; किंतु जो जीव देह की क्रिया को ही देखता हो, राग से लाभ मानता हो, उससे भिन्न आत्मा को देखता ही न हो, वह अपना उपयोग चैतन्य में लीन कैसे करेगा? जिसमें आत्मबुद्धि हो, जिससे लाभ मानता हो, उसमें से अपने उपयोग को क्यों हटावे? अत: उपयोग को अपने चिदानंदस्वरूप में एकाग्र करने के इच्छुक जीव को, प्रथम अपने स्वरूप को देहादि से एवं रागादि से अत्यंत भिन्न जानना चाहिये। संसार के किसी भी बाह्यविषय में या उसके प्रति राग में कहीं भी मेरा सुख या शांति नहीं है, अनंत काल तक बाह्यभाव किये परंतु मुझे किंचित् भी सुख न मिला। मेरे सुख का अस्तित्व मेरे निजस्वरूप में ही है, अन्यत्र कहीं नहीं; अत: अब मैं बाह्य उपयोग को छोड़कर मेरे स्वरूप में ही उपयोग को जोड़ता हूँ। ऐसे दृढ़ निर्णयपूर्वक धर्मी जीव बारबार अपने उपयोग को अंतरस्वरूप में लगाता है।

इसप्रकार उपयोग को अंतरस्वरूप में लगाना, यही जिनआज्ञा है, यही आराधना है, यही समाधि है, यही सुख है और यही मोक्ष का पंथ है।

ज्ञानानंदस्वरूप आत्मा है, उसको भूलकर देहादिक में आत्मबुद्धिरूप जो विभ्रम है, वही दु:ख का मूल है। उस आत्मविभ्रम से जो दु:ख हुआ, वह आत्मज्ञान से ही दूर होता है। 'देहादिक से भिन्न ज्ञान-दर्शनस्वरूप ही मेरा है, अन्य कोई मेरा नहीं है'—ऐसे आत्मज्ञान के बिना दु:ख मेटने का अन्य कोई उपाय नहीं है। आत्मज्ञान के बिना घोर तप करके भी जीव निर्वाण को नहीं पा सकता।

जो आत्मज्ञान का प्रयत्न करता है, वही दु:ख से मुक्त होता है।

जो आत्मज्ञान का प्रयत्न नहीं करता, वह दु:ख से मुक्त नहीं होता।

देखो, इस शास्त्र के कर्ता श्री पूज्यपादस्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र के ऊपर 'सर्वार्थसिद्धि' नामक महान टीका रची है; वे कहते हैं कि आत्मा का विभ्रम ही दु:ख का कारण है। कर्म के कारण से दु:ख है, ऐसा न कहा, परंतु जीव स्वयं आत्मज्ञान का प्रयत्न नहीं करता, इसी कारण वह दु:खी है; 'कर्म विचारे कौन भूल मेरी अधिकाई।' आत्मा अपनी ही भूल से दु:खी होता है, बेचारे जड़कर्म उसको क्या करे? जीव स्वयं आत्मज्ञान का प्रयत्न नहीं करता, इस कारण दु:खी है; फिर भी अज्ञानी कर्म का दोष देखता है कि कर्म ने मेरे को दु:ख दिया—इसप्रकार अपना दोष दूसरे के ऊपर लगा देना—वह अनीति है, जैननीति से विरुद्ध है; जैनधर्म का जाननेवाला

ऐसी अनीति नहीं करता। मोक्षमार्गप्रकाशक में कहते हैं कि—'तत्त्वनिर्णय करने में अपना उपयोग नहीं लगाता—सो उसमें जीव का ही अपराध है। जीव आप तो महंत रहना चाहता है, और अपना अपराध कर्मादि के ऊपर लगाता है किंतु यदि जिनआज्ञा को माने तो ऐसी अनीति संभवे नांही।' इसप्रकार जो अपना दोष कर्म के ऊपर ढोलता है, वह जीव जिनाज्ञा से बाह्य है।

आत्मज्ञान के बिना रागादिक यथार्थतः नहीं छूटते। पहले आत्मज्ञान करे, इसके बाद उसमें लीन होकर रागादिक मिटने पर व्रत-तप तथा मुनिदशा होती है। पंडित श्री टोडरमलजी कहते हैं—'जिनमत में तो ऐसी परिपाटी है कि पहले सम्यक्त्व हो, बाद में व्रत हो; सम्यक्त्व तो स्व-पर का श्रद्धान होने पर होता है, अतः पहले द्रव्यानुयोग के अनुसार श्रद्धान करके सम्यग्दृष्टि होना चाहिये, और पीछे चरणानुयोग के अनुसार व्रतादिक धारण करके व्रती होना चाहिये।

हे भाई! तेरे को यदि आत्मा की शांति चाहिये, अतीन्द्रिय आनंद चाहिये और दुःख से छुटकारा चाहिये तो तू अपने आत्मज्ञान का उद्यम कर! आत्मज्ञान एक ही शांति का तथा आनंद का उपाय है, उसी उपाय से दुःख मिटता है; अन्य कोई उपाय से दुःख नहीं मिटता। छहढाला में कहा है कि—

'ज्ञान समान न आन जगत में सुख को कारन,
यह परमामृत जन्म-जरा-मृत्यु रोग निवारन'

तथा उसमें ही कहा है कि—

मुनिव्रत धार अनंत बार ग्रीवक उपजायो,
पै निज आतमज्ञान बिना सुख लेश न पायो।

आत्मज्ञान के बिना अकेले शुभराग से पंच महाव्रत का पालन कर नवमीं ग्रैवेयक तक देवलोक में गया, तो भी वहाँ जरा भी सुख न पाया, मात्र दुःख ही पाया। अज्ञानी जीव की क्रिया संसार के लिये सफल है किंतु मोक्ष के लिये वह निष्फल है; और ज्ञानी की जो धर्मक्रिया है, वह संसार के लिये निष्फल है किंतु मोक्ष के लिये सफल है। जिसके अंतर में स्वसम्मुख प्रयत्न नहीं है, वह परसम्मुख जितना भी प्रयत्न करे, उसका फल दुःख तथा संसार ही है। आत्मस्वभाव में स्वसम्मुख प्रयत्न से ही सुख तथा शांति होती है; अतः वीतरागी संत बारबार कहते हैं कि अपूर्व शांति पाने के लिये आत्मा को पहचानो। ❀❀

स्वभाव की स्वीकृति तुरंत ही फल देती है

[षट्खंडागम में से एक सुंदर न्याय]

पर्याय में दु:ख के समय भी आत्मा में सुखस्वभाव होने का विरोध नहीं है।

पर्याय में अज्ञान होते हुए भी आत्मा में सर्वज्ञस्वभाव होने का विरोध नहीं है।

पर्याय में मिथ्यात्व के समय भी आत्मा में सम्यक्त्वस्वभाव होने का विरोध नहीं है।

पर्याय में राग के समय भी आत्मा में वीतराग-चारित्रस्वभाव होने का विरोध नहीं है।

—परंतु, उस स्वभाव का स्वीकार करते ही पर्याय में उसका फल आता है, और तत्काल ही मिथ्यात्वादि मिटकर सम्यक्त्वादि हो जाते हैं।

पर्याय में दु:ख-मिथ्यात्वादि होने पर भी उसी समय सुखादि स्वभाव से भरा हुआ आत्मा त्रिकाल मंगलस्वरूप है; और ऐसे मंगलरूप आत्मा का स्वीकार करनेवाले को अपनी पर्याय में से मिथ्यात्वादि अमंगल भाव दूर होकर सम्यक्त्वादि मंगल भाव प्रगट होता है।

देखो, यहाँ मिथ्यात्वादि अवस्था के समय ज्ञानस्वभावी आत्मा को मंगल कहा,—किंतु इससे कहीं मिथ्यात्वादि भावों को मंगलपना प्राप्त नहीं हो जाता। इस संबंध में षट्खंडागम के मंगलाचरण की टीका में श्री वीरसेनस्वामी ने बहुत ही सरस बात समझायी है। —(पुस्तक १, पृष्ठ ३४ से ३९) वहाँ पर आचार्यदेव कहते हैं कि द्रव्यार्थिकनय से ज्ञान-दर्शनस्वभावरूप जीवद्रव्य अनादि-अनंत मंगल है—क्योंकि भावि केवलज्ञानादि मंगलपर्यायों से वह अभिन्न है।

❋ वहाँ शिष्य शंका करता है कि : इसप्रकार यदि जीवद्रव्य को त्रिकाल-मंगल कहेंगे तो, मिथ्यादृष्टि अवस्था में रहे हुए भी 'जीव को' मंगलपना प्राप्त हो जायेगा?

❋ 'वाह! ऐसा प्रसंग तो हमें इष्ट है'—ऐसा कहकर आचार्यदेव स्पष्टता करते हैं कि,

ऐसा होने पर भी कहीं मिथ्यावादिभावों का मंगलपना नहीं हो जाता, क्योंकि 'उनमें जीवत्व नहीं पाया जाता'—मिथ्यात्वादि भावों जीवस्वभावरूप नहीं है। अतः वे मंगल नहीं हैं। मंगल तो जीव है, और वह जीव केवलज्ञानादि अनंत धर्मस्वरूप है। उस स्वभाव से देखा जाये तो आत्मा त्रिकाल मंगलरूप है।

अपने में ऐसे त्रिकाल-मंगलस्वभाव का अस्तित्व जिसने देखा, उसके भाव में ज्ञानादिस्वभाव तथा मिथ्यात्वादिपरभाव दोनों की अत्यंत पृथक्ता हो जाती है। उसकी पर्याय में से भी मिथ्यात्वादि का अभाव होकर सम्यक्त्वादि स्वभावभाव का प्रगट परिणमन होने लगता है, अतः उसके लिये तो त्रिकाल एवं वर्तमान दोनों ही मंगल हैं।

❋ त्रिकाल मंगलस्वभाव का स्वीकार करे और वर्तमान पर्याय मंगलरूप न हो—ऐसा नहीं बनता।

❋ त्रिकाल सुखस्वभाव का स्वीकार करे और वर्तमान पर्याय सुखरूप न हो—ऐसा नहीं बनता।

❋ त्रिकाल सम्यक्स्वभाव का स्वीकार करे और वर्तमान पर्याय में सम्यक्त्व न हो—ऐसा नहीं बनता।

आत्मा के स्वभाव को त्रिकाल मंगल कहा, तथापि इससे कहीं उसकी पर्याय के मिथ्यात्व-रागादि भावों में भी मंगलरूप नहीं हो जाता। यहाँ तो, पर्याय में अशुद्धता रहते हुए भी, द्रव्यस्वभाव में, उसी समय शुद्धता तथा मंगलपना, दिखलाकर, स्वभाव तथा परभाव की भिन्नता सिद्ध की है; ऐसी भिन्नता का भेदज्ञान होते ही जीव को अपने में सम्यक्त्वादि मंगलरूप भाव प्रगट हो जाते हैं।

❋ पर्याय में मिथ्यात्व होने पर भी आत्मा में सम्यक्त्व स्वभाव त्रिकाल है—ऐसा जिसने निश्चय किया, उसको अपनी पर्याय में मिथ्यात्व नहीं रहता, सम्यक्त्व होता है।

❋ उसीप्रकार अज्ञान के समय भी आत्मा में ज्ञानस्वभाव विद्यमान है—ऐसे ज्ञानस्वभाव का निश्चय करनेवाले को अपनी पर्याय में मिथ्याज्ञान नहीं रहता, सम्यग्ज्ञान हो जाता है।

❋ उसीप्रकार कषाय के समय भी आत्मा में अकषाय शांतस्वभाव विद्यमान है—ऐसा निश्चय करनेवाले के पर्याय में अकेला कषाय नहीं रहता, कषायरहित अतीन्द्रिय शांति का वेदन उसके शुरु हो जाता है।—इसप्रकार स्वभाव के स्वीकार के साथ ही उसका सम्यक्फल आने लगता है, अर्थात् सभी गुणों में स्वभाव का कार्य प्रारंभ हो जाता है।

यही है सम्यक्त्व और यही है साधकदशा।

❀❀❀

— चैतन्यरस —

❀ अहा, आत्मा के स्वसंवेदन-प्रत्यक्ष का कोई अपार सामर्थ्य है; स्वसंवेदन से अंतर में चैतन्यरस चखने के बाद अब हमारा चित्त अन्यत्र कहीं भी नहीं लगता। चैतन्यरस के स्वाद के सामने सारा संसार नीरस लगता है। ❀

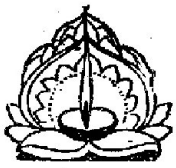

—: ज्ञानी की जागृत चेतना :—

सम्यग्दृष्टि-धर्मात्मा को निद्राअवस्था के समय चक्षु वगैरह इंद्रियविषयों में प्रतिबंध भले हो, परंतु उससमय भी अतीन्द्रियस्वभावी जो अपना आत्मा, उसकी प्रतीतरूप आत्मदर्शन में उसको कोई प्रतिबंध नहीं है। जागृत समय में जैसी आत्मश्रद्धा है, निद्रा के समय भी वैसी ही आत्मश्रद्धा वर्त रही है। अतः ज्ञानी को सदा जागृत ही कहा है... उसकी ज्ञानचेतना ऐसी जागृत है कि अपने स्वकार्य को निद्रा के समय भी वह छोड़ती नहीं है; निद्रा के समय भी ज्ञानचेतना का काम चालू ही है।

'वाह ज्ञानी! धन्य आपकी जागृत-चेतना।'

साधक-शतक-माला

मोक्ष की साधक स्वानुभूति मंगल है; स्वानुभूति-संपन्न धर्मात्मा मंगल है; ऐसे धर्मात्मा के सम्मान का जो उत्सव मुमुक्षु लोग मनाते हैं, उसमें भी स्वानुभूति की ओर झुकाव की प्रधानता रहती है। अहा, इस युग में हमें स्वानुभूतिवाले महात्मा का दर्शन होना—यह भी महान भाग्य है। उनकी स्वानुभूति को पहचानकर जो स्वयं अपने में भी ऐसी आराधना करे, उसका तो अपूर्व कल्याण हो जाता है। वह सज्जन अपने पर किये गये उपकार को कभी नहीं भूलता।

एक साधक महात्मा का सच्चा सम्मान करने के लिये, उनकी आत्म-साधना को एवं उनमें विद्यमान चैतन्यरूप साधकभाव को पहचानना आवश्यक है; साधक जीव के ऐसे चैतन्यभाव का वर्णन उनकी अत्यंत महिमा के साथ, यहाँ १०८ पुष्पों की 'मंगलमाला' के द्वारा किया गया है। इसके द्वारा ज्ञानी की अचिंत्य महिमावंत परिणति को जो पहचानेगा, उसका कल्याण होगा ही होगा।

—ब्रह्मचारी हरिलाल जैन

१. हे साधक! हे पूर्णानंदस्वरूप के पथिक! वीरनाथ के शासन में आ करके, अन्तरंगस्वभाव में प्रविष्ट होकर, सम्यग्दर्शन के द्वारा निर्विकल्प चैतन्य का उजाला प्रगट किया—यह तो आपने महान कार्य किया।

२. धर्मात्मा ने स्वानुभूतिरूपी गुफा में प्रवेश करके चैतन्य के गुप्त चमत्कार को देख लिया है; परम साध्य को अंतर में देख लिया है, और उसका साधन भी अपने में ही है।

३. पूर्ण चैतन्यतेज की प्रतीत करके धर्मी जीव शीघ्र केवलज्ञान लेने के लिये परमात्मा की वीतरागी परंपरा में प्रविष्ट हो गया, उसका ज्ञान सुज्ञानरूप से झलक उठा।

४. धर्मात्मा का ज्ञान आस्रवों से (परभावों से) भिन्न हुआ है और अनास्रवी (मुक्त) निज-चैतन्यस्वभाव के साथ उसका एकत्व हुआ है; ऐसी ज्ञानपरिणति की अपेक्षा से तो वह धर्मात्मा आस्रवरहित ही है, मुक्त ही है।

५. जिसकी प्रीति-रुचि अंतर के पूर्ण चैतन्यस्वभाव में ही है, और अन्य सबसे हट गई है, वही ज्ञानी है; उसकी परिणमन परमात्मपद की ओर झुक गया है।

६. ज्ञानी-धर्मात्मा के पण्डितवीर्य का स्फुरन हुआ है और परभावों से भिन्नता हुई है; अनादि की बालबुद्धि मिटकर साधकदशारूप यौवन प्रगट हुआ है।

७. हे साधक संत! तुम्हारा पूर्ण चैतन्य तेज जैसा तुम्हें प्रतीति में व अनुभव में आया है, वैसा जब तक पूर्णतः प्रगट न हो जाये, तब तक निरंतर उस चैतन्यतेज का ध्यान करते रहना।

८. परमात्म होने का सामर्थ्य मेरे स्वभाव में भरा है—ऐसा अंतर के स्वसंवेदन से ज्ञानी ने जान लिया है, और वह प्रगट करने का प्रयत्न चालू है।

९. राग विद्यमान रहते हुए भी, धर्मी को राग से चैतन्य की भिन्नता का भान है; मेरा आत्मस्वभाव जिनस्वरूप वीतराग है—ऐसा स्वसंवेदन उसे निरंतर रहा करता है।

१०. बंदर का बच्चा हो, चिड़िया हो, चाहे आठ वर्ष की बालिका हो,—उसे भी अंतर में स्व-संवेदन होने पर ऐसी अपूर्व दशा हो जाती है। हे भव्य जीव! ऐसी धर्मदशा को देखकर-पहचानकर उसका तुम अनुमोदन करना।

११. धर्मी के स्वानुभवदशा प्रगट हुई है, तथापि जब तक ज्ञानादि का परिणमन कम है और अस्थिरतारूप रागादि होते हैं, तब तक उतना बंधन भी उसके होता है।

१२. थोड़ा सा भी राग केवलज्ञान को रोकनेवाला है, अतः हे साधक! चैतन्य के उग्र ध्यान से संपूर्ण राग नष्ट करने योग्य है।

१३. साधक-धर्मात्मा को अपने में तो ऐसा भान तथा प्रयत्न चल ही रहा है, परंतु उसके संबोधन के बहाने से अन्य जीवों को उसकी अलौकिकदशा की पहचान कराते हैं कि साधकदशा कैसी होती है! साधक के अंतर में तो सदैव मोक्ष के आनंद का महोत्सव चल रहा है।

१४. साधक के राग होते हुए भी, उसको राग में इष्टता नहीं लगती, चैतन्यध्यान ही उसको इष्ट है; उसकी ज्ञानपरिणति राग से पृथक् ही रहती है।

१५. सम्यग्दर्शन प्रगट होने का पंथ भी यही है कि राग में इष्टबुद्धि छोड़कर, अत्यंत सुंदर चैतन्यस्वरूप में प्रवेश करके उसका ध्यान करना; और ऐसी दशावाले धर्मात्मा को पहचानना।

१६. अहा, ज्ञानी की दशा अचिंत्य होती है! चैतन्यशक्ति के स्पर्शन से श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र का सुंदर परिणमन उसे हुआ ही करता है; उसमें अन्य किसी का अवलंबन नहीं होता। अहो, निरालंबी चैतन्यतत्त्व अद्भुत है!

१७. अहो, निरालंबी चैतन्यतत्त्व! उसकी निर्मल परिणति भी निरालंबी है, राग की शुभवृत्ति का भी अवलंबन उसमें नहीं है।

१८. ऐसे निरालंबी चैतन्य की पूर्ण परिणति को प्राप्त परमात्मा (अरिहंत भगवान तथा सिद्ध भगवान) भी निरालंबीरूप से आकाश में रहते हैं; वे गंधकुटि का या सिद्धशिला का स्पर्श नहीं करते।

१९. सम्यग्दर्शन हुआ, तभी से ज्ञान की धारा सम्यक्रूप वर्तती है; वहाँ राग तथा विकल्प हो तो भी ज्ञानी की ज्ञानधारा उस राग को नहीं स्पर्शती।

२०. 'मैं शुद्ध हूँ' ऐसे ज्ञानमयभावरूप से जिस ज्ञान का परिणमन हुआ, उसके अंदर अब रागादि नहीं आयेगा; राग पृथक् ज्ञेयरूप होगा किंतु ज्ञान उसमें तन्मय नहीं होगा।

२१. ज्ञानी का कार्य ज्ञानमय ही है, ज्ञानी का कार्य रागमय नहीं है। ज्ञानकार्य तथा रागकार्य दोनों का कर्ता एक ही भाव नहीं होता। ज्ञानी का ज्ञानमय भाव राग का अकर्ता ही है।

२२. ज्ञानी के स्वानुभवपूर्वक ज्ञान की जो सम्यक्धारा प्रगटी, वह सविकल्पदशा के समय भी विद्यमान रहती है। सम्यग्दृष्टि के अविरत-गृहस्थदशा में भी ज्ञानधारा सतत विद्यमान वर्तती है; 'वह ज्ञानधारा निरंतर निर्विकल्प है।'

२३. निर्विकल्प उपयोग की श्रेणी (सातवें गुणस्थान से ऊपर की भूमिका) अभी इस काल के जीवों के नहीं होती; परंतु सम्यग्ज्ञान की अप्रतिहतधारा इस समय भी किसी-किसी जीवों में है; वे भी धन्य है... उनका दर्शन भी मंगलरूप है।

२४. इस काल में भी समकिती गृहस्थ को या स्त्री को भी ऐसा धारावाही ज्ञान रहता है कि

बीच में अज्ञान आये बिना अप्रतिहतधारा से जो केवलज्ञान तक पहुँचेगा। अहो, ऐसे धर्मी जीव धन्य है!

२५. साधक की ज्ञानधारा कैसी होती है–यह समयसार में अलौकिक ढंग से आचार्यदेव ने समझाया है; उसे जो पहचाने, उसको अपने में ज्ञान तथा राग की धारा अत्यंत भिन्न-भिन्न हो जाती है।

२६. अहो, इस 'समयसार' में तो साक्षात् तीर्थंकरदेव के दिव्यध्वनि का सार भरा है। भेदज्ञान के ऐसे मन्त्र इसमें भरे हैं कि–जो एकक्षण में ही ज्ञान तथा राग की एकता को तोड़ देते हैं।

२७. निजस्वरूप की महिमा में लीन होने से शुद्धात्मा की अनुभूति होती है। ऐसी अनुभूति होते ही आत्मा समस्त परद्रव्य तथा परभावों से दूर रहता है।

२८. शुभाशुभराग के एक अंश को भी ज्ञान में न मिलाना, ज्ञान को समस्त राग से अत्यंत जुदा अनुभव में लेना—ऐसा भेदज्ञान ही संवर का उपाय है।

२९. अहा, धर्मी जीव स्वशक्ति में तन्मय होता हुआ, चैतन्यस्वभाव में लीन होकर निर्विकल्प शांतरस का अनुभव करते हैं; चैतन्य-आनंद के अमृतसमुद्र में बाढ़ लाता है।

३०. ज्ञानी को जब सम्यग्दर्शन हुआ, तभी से मिथ्यात्वरूप परपरिणति तो छूट गई है, और अस्थिरतारूप परपरिणति को भी छोड़ने के लिये बारबार वह निजस्वरूप में अंतर्मुख होता है।

३१. राग के ही सामने देखते रहने से राग का अभाव नहीं होता, परंतु चैतन्यस्वभाव में परिणति के झुकते ही राग की उत्पत्ति नहीं होती; अतएव परिणति को स्वोन्मुख करना, यही वीतरागता का उपाय है।

३२. अहो, साधक जीव का ऐसा स्वरूप, एवं ऐसे साधकभाव का मार्ग कोई विरले ही जीव जानते हैं; उसका श्रवण भी दुर्लभ है। यह चैतन्यहीरा कैसा है—इसकी कीमत करनेवाले जीव सदैव विरले ही होते हैं—फिर भी, अभी यहाँ पर विद्यमान है।

३३. साधक ज्ञानी की दशा की यथार्थ पहचान से स्वरूप की साधना का मार्ग मिल जाता है। ज्ञानीजन किस प्रकार निजस्वरूप को साध रहे हैं—इसको पहचानने से अपने में भी ऐसा मार्ग अवश्य प्रकट होता है।

३४. ज्ञानी-धर्मात्मा निरंतर निजचैतन्यस्वरूप में ही एकत्वभाव करते हैं और उसी में स्थिर रहना चाहते हैं; उसकी चेतना राग को नहीं स्पर्शती, उससे भिन्न ही रहती है।

३५. जो जीव राग की रुचि (उपादेयबुद्धि) करता है वह जीव, राग से भिन्न ज्ञानी की परिणति को नहीं पहचान सकता। जो स्वयं राग से जुदा परिणमता है, वही ज्ञानी की परिणति को सच्चे स्वरूप से जान सकता है।

३६. ज्ञानी ने शुद्धनय के द्वारा शुद्धात्मा के अवलंबन से शुद्धता प्रगट करके कर्म के साथ का संबंध तोड़ दिया है, अतः उनको कर्म का बंधन नहीं होता, निर्जरा ही होती है।

३७. एक ही वाक्य में श्री वीरप्रभु के उपदेश का रहस्य यह है कि 'शुद्धनय का अवलंबन करना।' शुद्धनय से जिसका परिणमन शुद्धात्मा की ओर झुका, उसे कर्मचक्र की परंपरा टूट गई, और धर्मचक्र चालू हो गया।

३८. शुद्धनय का अवलंबन कहो, पूर्णानंद चैतन्यस्वभाव की सम्मुख परिणमन कहो, या सम्यक् दर्शन-ज्ञान-चारित्र कहो, वही अबाधित मोक्षसाधन है, और वही धर्मचक्र है।

३९. एक ओर ज्ञानानंदस्वभाव है, दूसरी ओर रागादि परभाव है—जो अंतर्मुख होकर स्वभाव की ओर आता है, वह मुक्त होता है; और जो बहिर्मुख हो रागादि परभाव में जाता है, वह बँधता है।

४०. साधकसंत अंतर की चैतन्य गुफा में आनंद की अनुभूति में झूलते-झूलते मोक्ष को साध रहे हैं... परमात्मा उसकी दृष्टि के सम्मुख ही है... उसने परम-आत्मा के साथ गोष्ठी करके राग की गोष्ठी तोड़ दी है।

४१. राग की रुचि रखनेवाला (या उसको मोक्ष का साधन माननेवाला) अज्ञानी जीव उससे दूर होकर चैतन्यस्वभाव में प्रवेश नहीं करता, वह चैतन्य से बाहर ही बाहर राग में ही रहता है, अतः कर्म से बँधता है।

४२. ज्ञानी जब राग से दूर होकर परमात्मस्वभाव में प्रविष्ट हुआ, तब बंधन तो बाहर रहा। परमात्मस्वभाव में कर्म का प्रवेश नहीं होता। अतः शुद्धनय के द्वारा जो परमात्मस्वभाव में ऊंडा उतरा, उसको बंधन नहीं है, वह तो मुक्तिसुख का स्वाद ले रहा है।

४३. अहो, यह शुद्धात्मा का अवलंबन ही परम शांतरस का पोषक है; जैनसंतों ने स्वानुभव के द्वारा प्रसिद्ध करके वह सुगम कर दिया है; ऐसे संतों के उपकार को सज्जन लोग कैसे भूलें?

४४. साधकभाव शुद्धात्मा के आश्रय से है, राग के आश्रय नहीं।—यह जानकर मुमुक्षु को चाहिये कि शुद्धात्मा में परिणमन करे और राग का शरण छोड़े।

४५. स्वभाव का आश्रय करके जिसने शुद्ध अनुभूति प्रगट की, उसने परम शांत अतीन्द्रिय चैतन्यरस चाख लिया, और सर्व शास्त्र का रहस्य प्राप्त कर लिया।

४६. सम्यग्दृष्टि का चित्त शुद्धनय से उज्ज्वल है; बाहर में देह चाहे सुंदर हो या असुंदर, परंतु जिसके अंतर में निर्मल अनुभूति प्रगटी, वह कृतकृत्य है, महान है, चैतन्य की अत्यंत सुंदरता से उसका आत्मा शोभायमान है।

४७. शुद्धात्मा का अवलंबन करनेवाली धर्मात्मा की चेतनापरिणति अत्यंत धीर है, उदार है, गंभीर है, पवित्र है, और ऐसी बलवान है कि समस्त कर्मों का मूल से उच्छेद कर देती है।

४८. धर्मात्मा का साधकभाव एवं साध्य दोनों अपने अंतर में ही समाते हैं। साध्य, साधक और साधन तीनों ही निर्विकल्परूप से अपने में ही समाते हैं, बीच में अन्य कोई (रागादि) साधन नहीं है।

४९. इस देह से भिन्न चैतन्यप्रभु, ज्ञान-आनंद की संपूर्ण प्रभुता से भरा है, उसका अंतर में भान करके ज्ञानी ने राग से भिन्न चैतन्यभगवान का साक्षात्कार किया है, यही अपूर्व धर्म है।

५०. अपने चैतन्य की अत्यंत सुंदरता को जानते ही उसमें से धर्मधारा निकली; ज्ञानी की यह धर्मधारा ऐसी अटूट है कि शुभाशुभपरिणाम के समय भी वह छूटती नहीं; यह ज्ञानधारा अप्रतिहतरूप से आगे बढ़ती हुई केवलज्ञान तक पहुँच जायेगी।

५१. शुद्ध उपयोग न हो तब भी, अरे! निद्रा के समय भी, धर्मी को ज्ञानधारा का प्रवाह सतत चल रहा है, उसका ज्ञान अज्ञानरूप नहीं हो जाता; उसकी श्रद्धा तथा चेतना सदैव निर्विकल्प है; उसका इष्टकार्य चालू ही है।

५२. सम्यक्त्व हुआ तभी से ज्ञान की धारा सम्यक्रूप वर्तती है; विकल्प के रहते हुए भी उससे भिन्न ज्ञानधारा वर्तती है; ऐसी ज्ञानाधारा में अशुद्धता का तथा कर्म का अभाव है।

५३. 'मैं शुद्ध ज्ञान हूँ'—ऐसी अनुभूति ज्ञान का कार्य है, राग का नहीं। ज्ञानी के ज्ञान का तथा राग का कार्य अत्यंत भिन्न-भिन्न है।

५४. ज्ञानी का कार्य ज्ञानमय ही होता है; ज्ञानी का कार्य रागमय नहीं होता। ज्ञान और राग की जाति ही भिन्न-भिन्न है। ज्ञानी सदा ज्ञानमय भाव से ही तन्मयरूप है, राग से तन्मयरूप नहीं है।

५५. स्वरूप में निर्विकल्प उपयोग गणधरदेव जैसे को भी अन्तर्मुहूर्त से अधिक काल नहीं रहता; परंतु ज्ञान की सम्यक्धारा का प्रवाह तो सविकल्पदशा में भी सम्यग्दृष्टि-अविरतगृहस्थ के भी सतत चलता रहता है।

५६. अहो वीरनाथ! आपका मार्ग सचमुच में वीरता का ही मार्ग है; आपके मार्ग में रागरूप कायरता छूटकर वीतरागी-वीरता जगती है, और आत्मा वीरता से मोक्ष को साधता है।

५७. प्रभो! आपके मार्ग में चलनेवाले छोटे से छोटे सम्यग्दृष्टि की दशा भी कोई अद्भुत आश्चर्यकारी शांतिरूप होती है;—उसकी पहचान करनेवाले भी धन्य बन जाते हैं।

५८. अहो, धर्मात्मा की अनुभूति कैसी होती है? तथा अपने को ऐसी अनुभूति कैसे हो?—यह समझने की जिसे लगन है, ऐसे शिष्य को आचार्यदेव कहते हैं कि निजस्वरूप के महिमा में लीन होने से शुद्धात्म अनुभूति होती है।

५९. शुभ या अशुभराग के किसी भी अंश को ज्ञान के साथ नहीं मिलाना, तथा ज्ञानरूप आत्मा की अत्यंत तन्मय अनुभूति करना—ऐसा भेदज्ञान, वही संवर का मूल साधन है।

६०. जैसे आम्र का वृक्ष तथा नीम का वृक्ष—इन दोनों के मूल जुदे ही हैं, वैसे अमृतरूप ज्ञान तथा कटुतारूप आस्रव-क्रोधादि—इन दोनों के मूल जुदे ही हैं, दोनों के स्वाद जुदे हैं, दोनों के स्वभाव जुदे हैं।

६१. अहो, साधक की ज्ञानधारा का अलौकिक स्वरूप आचार्यदेव ने समयसार में दिखलाया है; उसमें ऐसा मंत्र भरा है कि जो तत्क्षण ही ज्ञान को राग से भिन्न करके आत्मा को आनंदित करता है।

६२. इस समयसार में साक्षात् तीर्थंकरदेव के दिव्यध्वनि का संदेश है,—जो चैतन्यतत्त्व के एकत्व की सुंदरता का अपार वैभव दिखलाकर आत्मा को सिद्धों के देश में ले जाता है। (क्रमशः)

मुझे अब लगा संसार असार.... मुझको जाना है उस पार

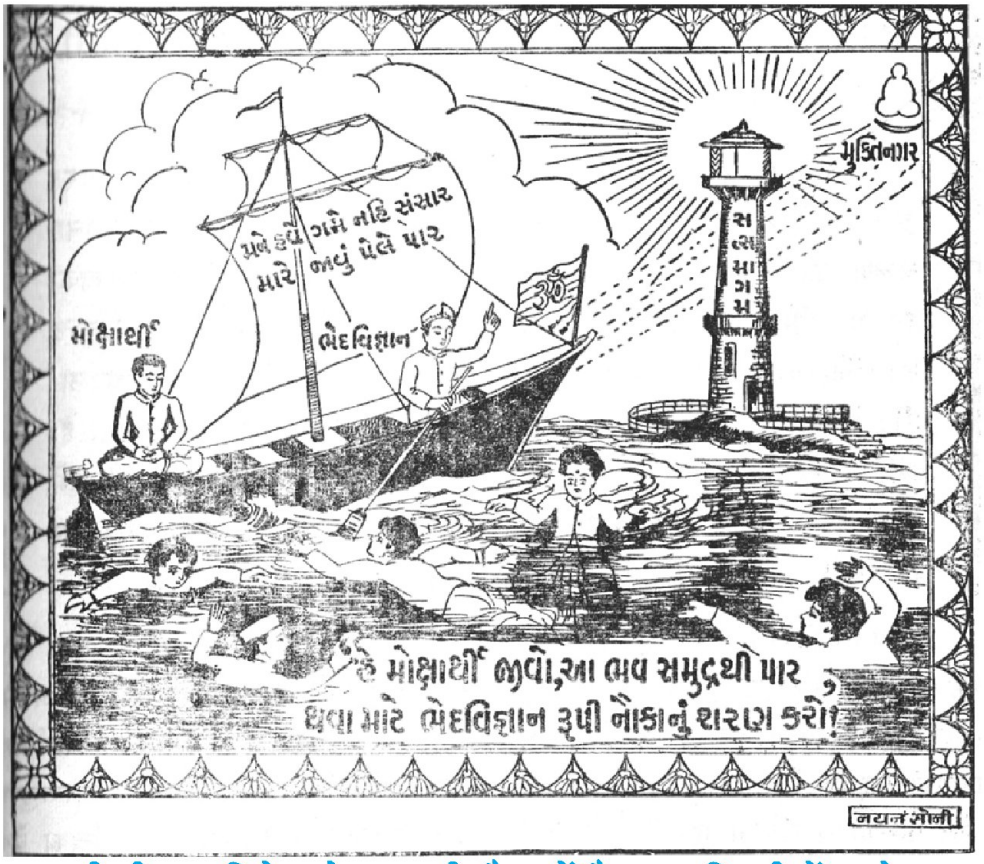

श्री वीरनाथ जिनेन्द्र भेदज्ञानरूपी नौका में बैठकर मुक्तिपुरी में पधारे।
हे मोक्षार्थी जीवो! आओ, हम भी भेदविज्ञान की नौका में बैठकर मोक्षपुरी में चलें।

आत्मा का परमार्थस्वरूप

देहादि से पार, अपनी असाधारण चेतना से संपन्न, प्रत्यक्षज्ञाता, अतीन्द्रिय ज्ञानस्वरूपी अकेले अनुमान से जो अनुभव में नहीं आता ऐसा, इंद्रिय-मन से या लौकिक साधनों से पार, द्रव्य-गुण-पर्याय के भेद से भी जिसका अनुभव नहीं होता, किंतु चैतन्य की अतीन्द्रिय स्वानुभूति में जो पूरा समा जाता है—ऐसे आत्मा का अद्भुत वर्णन करके श्री आचार्यदेव कहते हैं कि—हे भव्य! ऐसे आत्मा को इंद्रियातीत स्वसंवेदन से तुम जानो!

श्री प्रवचनसार गाथा १७२ में, शरीर-कर्म इत्यादि अन्य समस्त द्रव्यों से भिन्न आत्मा का परमार्थस्वरूप दिखलानेवाला असाधारण चेतना-लक्षण कहा है; और उस चेतनालक्षण से लक्षित परमार्थरूप आत्मतत्त्व का स्वरूप बीस अर्थों के द्वारा बहुत स्पष्ट समझाया है। श्री कुन्दकुन्दस्वामी के पाँचों परमागमों में यह गाथासूत्र है, एवं षट्खंडागम की 'धवला' टीका में भी है—इसी से इस गाथासूत्र की विशेषता लक्ष में आ जाती है; और इसके वाच्यरूप चैतन्यभावों का ज्ञान तो अतीन्द्रिय स्वसंवेदन में धर्मी को ही होता है। ऐसे गाथासूत्र में कैसा सुंदर अध्यात्मरस झर रहा है।—सो आप इस प्रवचन में पढ़ेंगे। (संपादक)

समयसार में (गाथा ५० से ५५ में) २९ बोल के द्वारा समस्त परभावों को तथा भेद-विकल्पों को चैतन्यस्वरूप आत्मा की अनुभूति से भिन्न दिखाया। अनुभूतिपर्याय को तो अपने में अभेद करके आत्मा उसरूप परिणमित हुआ है; वैसे यहाँ अलिंगग्रहण के अर्थ में परमार्थस्वरूप आत्मा की पहचान चैतन्यचिह्न से करायी—उसे हे भव्य! तू जाण! उसे 'जानने में' अनंत गुण के निर्मल परिणाम का संवेदन भरा है; उसे जानते ही आत्मा स्वयं सुखी होता है, आनंद का वेदन होता है, अतीन्द्रियभावों से पर्यायरूपी कमल विकसित हो जाता है... और

अभेदरूप से उस शुद्धपर्याय को आत्मा ही कहा है, क्योंकि वह पर्याय परभावों से भिन्न हुई है, और आत्मा स्वयं उस शुद्धपर्यायरूप हुआ है।—ऐसी अनुभूतिस्वरूप आत्मा 'अलिंगग्राह्य' है; और उसमें अन्य अनेक भाव दिखाने के लिये उसे यहाँ 'अलिंगग्रहण' कहा है—'जाण अलिंगग्गहणं...'

'जानीहि अलिंगग्रहणं' अलिंगग्रहण आत्मा को तू जान! इतने सूत्र में तो बहुत गंभीर भाव भरे हैं; उसमें से यहाँ अमृतचंद्र महाराज ने टीका में २० अर्थ खोले हैं।

आत्मा इंद्रियों से जाननेवाला नहीं है अर्थात् अतीन्द्रिय ज्ञानमय है। देखो, इंद्रियों से एवं इंद्रियोन्मुख ज्ञान से पार होकर, माने अतीन्द्रिय ज्ञानरूप होकर, ज्ञानस्वभावी आत्मा का ज्ञान हो सकता है। अतीन्द्रिय ज्ञानरूप होकर जिसने इंद्रियों को जीती, अर्थात् भिन्न जान ली, उसने अपने सर्वज्ञस्वभाव के स्वीकारपूर्वक सर्वज्ञदेव की सम्यक्स्तुति की, वह सर्वज्ञ का आराधक हुआ।—यही बात यहाँ आत्मा को अतीन्द्रिय ज्ञानमय कहकर आचार्यदेव ने दिखलाई है।

'मैं इंद्रियों से ही जाननेवाला हूँ'—ऐसा माननेवाला जीव इंद्रियों से भिन्न अपना अनुभव नहीं कर सकता, अतीन्द्रिय चेतनागुणसंपन्न आत्मा को वह नहीं जानता। अरे, आत्मा चेतनस्वभावी—उसे इंद्रियाँ कैसी? इंद्रियों को तो परद्रव्य करके आत्मा में से निकाल दी है, वे जीव नहीं हैं, वे आत्मा के स्वभाव को जरा भी छू नहीं सकती, आत्मा का अस्तित्व उनसे अत्यंत भिन्न है।

इंद्रियाँ पुद्गल की रचना है, वे जीवस्वभाव नहीं है, परद्रव्य है; अतः उनसे प्रत्यक्षज्ञान की उपलब्धि नहीं होती; अतीन्द्रिय आत्मा को इंद्रियज्ञान नहीं जान सकता। ज्ञानपर्याय अतीन्द्रिय होकर स्वविषयभूत आत्मा में तन्मय होती है, तभी उसमें सम्यग्ज्ञान होता है। आत्मा स्व को या पर को अतीन्द्रिय होकर जाने, ऐसा ही उसका स्वभाव है। जानने का स्वभाव आत्मा का है, वह कहीं इंद्रिय का स्वभाव नहीं है। अहा, अतीन्द्रियज्ञानस्वभाव आत्मा है—ऐसा निश्चय करते ही, ज्ञान इंद्रियों के, पर के या राग के अवलंबन से हटकर, स्वभाव के ही अवलंबन से अतीन्द्रियरूप परिणमित हो जाता है, और वह ज्ञान अतीन्द्रिय आनंद की छापवाला है।

इसप्रकार पर्याय में भी जब अतीन्द्रियभावरूप परिणमन हुआ, तभी अतीन्द्रिय आत्मा को जाना है।

❀ क्या स्पर्शन इंद्रिय से आत्मा जाना जाता है ?

—ना; क्योंकि आत्मा में स्पर्श नहीं है, आत्मा अस्पर्श है।

❀ क्या रसना इंद्रिय से आत्मा जानने में आता है ?

—ना; क्योंकि आत्मा में रस नहीं है, आत्मा अरस है।

❀ क्या नासिका इंद्रिय से आत्मा जाना जाता है ?

—ना; क्योंकि आत्मा में गंध नहीं है, आत्मा अगंध है।

❀ क्या चक्षु से आत्मा जानने में आयेगा ?

—ना; क्योंकि आत्मा में रूप नहीं है, आत्मा अरूप है।

❀ क्या शब्द से आत्मा जाना जाता है ?

—ना; क्योंकि आत्मा में शब्द नहीं है, आत्मा अशब्द है।

❀ क्या मन के द्वारा आत्मा जानने में आता है ?

—ना; क्योंकि अतीन्द्रिय आत्मा अकेले अनुमानगोचर नहीं होता।

❀ किसी आकृति के द्वारा आत्मा पहचाना जायेगा ?

—ना; क्योंकि असंख्यप्रदेशी आत्मा का कोई निश्चित आकार नहीं है।

❀ क्या भेद के द्वारा आत्मा अनुभव में आयेगा ?

—ना; क्योंकि आत्मअनुभूति में द्रव्य-गुण-पर्याय के भेद नहीं होते।

❀ तो क्या चेतना से आत्मा जाना जायेगा ?

—हाँ... क्योंकि आत्मा स्वयं अपनी चेतनास्वरूप है।

स्पर्शनादि इंद्रियों के द्वारा आत्मा की पहचान होने का जो मानता है, वह आत्मा को स्पर्शनादिवाला समझ रहा है। अतः वह देह को ही आत्मा मानता है, और इसकारण देहातीत

ऐसे अतीन्द्रिय आत्मा की स्तुति करना, उसे नहीं आता। अत: श्री कुन्दकुन्दस्वामी कहते हैं कि अतीन्द्रिय स्वानुभूति के द्वारा ही सर्वज्ञ की सम्यक्स्तुति तथा सर्वज्ञ के मार्ग की सम्यक्उपासना हो सकती है; और ऐसी स्तुति करनेवाला जीव जितेन्द्रिय है; वह इंद्रियों से भिन्न होकर अतीन्द्रिय चेतनारूप परिणमा है। ऐसा धर्मात्मा जीव कहता है कि—अहो वीरनाथ सर्वज्ञदेव! आपके शासन में ऐसी अतीन्द्रिय चेतना को पा करके हम आपकी परमार्थस्तुति करते हैं।

पुद्गलमय इंद्रियाँ जिसका स्वभाव नहीं है, ऐसा अतीन्द्रिय आत्मा स्वयमेव ज्ञानस्वरूप है, वह अपने अतीन्द्रिय ज्ञानस्वरूप स्वयमेव परिणमित होता हुआ जानता है, इंद्रियों के द्वारा वह नहीं जानता। ज्ञान को तथा इंद्रियों को (-आत्मा को तथा शरीर को) अत्यंत भिन्नता है, तब फिर ज्ञान इंद्रियों के द्वारा क्यों जाने? जानने का स्वभाव ज्ञान का है, इंद्रियों का नहीं। इसप्रकार परमार्थ से, इंद्रिय को निमित्त बनाकर जाने, ऐसा परालंबी ज्ञानस्वभाव नहीं है; अतएव इंद्रियज्ञान भी जीव का स्वभाव नहीं है, अतीन्द्रिय ज्ञानस्वभावी आत्मा है—वही परमार्थ है।—ऐसे परमार्थस्वरूप आत्मा को चेतना लक्षण के द्वारा हे भव्य! तुम जानो।

आत्मा इंद्रियों से जाननेवाला नहीं; उसका स्वभाव अतीन्द्रियज्ञानरूप है। जैसे पुद्गल-पिंड का आत्मा में अभाव है, अत: आत्मा शरीरादि पुद्गलपिंड का कर्ता नहीं है; उसीप्रकार पुद्गलपिंडरूप इंद्रिय का आत्मा में अभाव है। अत: वे इंद्रियाँ आत्मा के ज्ञान की कर्ता नहीं हैं, उन्हें साधन बनाकर आत्मा जाने-ऐसा आत्मा का स्वभाव नहीं है, एवं ज्ञान का साधन हो—ऐसा स्वभाव इंद्रियों में भी नहीं है। इंद्रियों से आत्मा की अत्यंत भिन्नता है, इंद्रियों से जीवस्वभावपना बिल्कुल नहीं है।

अरे, आत्मा चैतन्यतेज से चमकित हीरा—वह कहीं इंद्रियज्ञान से प्राप्त हो सकता है? नहीं; उस चैतन्यतत्त्व में तो बड़ी भारी गंभीरता है, अतीन्द्रियज्ञान ही उसका पार पा सकता है; उसकी साथ में जो अभेद-तन्मय हो सके, वही उसको जान सकता है। इंद्रिय में-राग में-विकल्प में ऐसी ताकत नहीं कि चैतन्यस्वभाव के साथ अभेद होकर वे रह सकें। वे तो सब चैतन्यस्वभाव से जुड़े हैं, वे आत्मस्वभाव को ज्ञेय नहीं बना सकते, अत: उन राग-इंद्रिय या विकल्प में तन्मय रहकर आत्मा का अनुभव नहीं हो सकता।

भव के सिंधु को खाली करके चैतन्यरत्न को बाहर निकालने की यह बात है। अरे

भाई! ऐसा सुंदर-अद्भुत तेरा चैतन्यरत्न, वह कहीं भवसिंधु में रहकर शोभा पाता है?—नहीं! वह तो आनंद के ही सागर में शोभा पाता है; अरे, आनंद के सागर तो उसी में भरा हुआ है; ऐसे तुम्हारे चैतन्यरत्न को तुम पहचानो; और पहचानकर उसे भवसमुद्र में से बाहन निकालो। अतीन्द्रियज्ञान से सींचन करके तुम्हारे आनंदबाग को प्रफुल्लित करो।

सर्वज्ञदेव के अनुसार कुन्दकुन्दाचार्य गुरु ने प्रवचनसार-शास्त्र में चैतन्यस्वभावी आत्मा को प्रसिद्ध किया है। अहा! आत्मा को 'भगवान' कहकर उसका परम महिमावंत स्वभाव दिखाया है। ऐसा महान भगवान, वह कहीं अशुचिमय राग के द्वारा जानने में आ सकता है?—ना; भगवान आत्मा पवित्रस्वभावी-शुद्धचेतनास्वरूपी, उसमें इंद्रियाँ प्रवेश नहीं पा सकतीं, राग उसको नहीं देख सकता, इंद्रियज्ञान भी उसको नहीं जान सकता; अतीन्द्रियज्ञान ही उसमें घुसकर तन्मय होकर उसका साक्षात्कार करता हुआ स्वसंवेदन करता है। ऐसा आत्मा दिव्यध्वनि के द्वारा तीर्थंकर भगवान ने प्रकाशित किया है, और गणधरादि श्रीगुरुओं ने उसे झेलकर, स्वसंवेदन-प्रत्यक्ष करके, शास्त्र में गूँथा है। महान भाग्य से आज हमें श्री गुरुप्रसाद से वह प्राप्त हुआ है।

जिसने स्वसंवेदन से अपने आत्मा को प्रत्यक्ष किया है—वही दूसरे धर्मात्मा जीव का सत्य अनुमान कर सकता है। अपने स्वसंवेदनप्रत्यक्ष के बिना अकेले अनुमानमात्र से दूसरे धर्मात्मा के अतीन्द्रिय आनंद वगैरह का सच्चा ज्ञान नहीं हो सकता। ज्ञानी का अतीन्द्रिय आनंद कैसा है—अज्ञानी उसे नहीं पहचान सकता। स्वसंवेदन-प्रत्यक्ष, सो निश्चय, ऐसे निश्चयपूर्वक होनेवाला अनुमानरूप व्यवहार ही सत्य होता है; किंतु, जैसे निश्चय से रहित अकेले व्यवहार सत्त्व नहीं होता, वैसे प्रत्यक्ष से रहित अकेला 'परोक्ष-अनुमान' भी सत्य नहीं होता। अहो, जैनशासन की अनेकांतशैली एवं निश्चय-व्यवहार कोई अलौकिक आश्चर्यकारी है।

धर्मात्मा की अभेद अनुभूति का रहस्य

धर्मात्मा की अनुभूति का रहस्य गंभीर है। श्रीगुरु अतिशय प्रमोदपूर्वक बारंबार सम्यग्दर्शन की महिमा दिखलाकर कहते हैं कि अहा, अनुभव की क्षण में द्रव्य-गुण-पर्याय का कोई भेद दृष्टि में नहीं रहता, परम आनंदसहित एक चैतन्यतत्त्व अखंडरूप से प्रकाशमान रहता है—वेदन में आता है।

'अलिंगग्रहण' के २० अर्थों में से अंतिम तीन बोल में गुण-पर्याय एवं द्रव्य—इन तीनों के भेद के विकल्पों से पार अभेदरूप आत्मा की अनुभूति का स्पष्ट वर्णन आचार्यदेव ने अलौकिक ढंग से समझाया है। गुण के भेद से आत्मवस्तु का अवबोध नहीं होता, अतः आत्मा गुणभेदरूप लिंग को ग्रहण नहीं करता,—गुणभेद से वह अनुभव में नहीं आता। यही समयसार की सातवीं गाथा में कहा है कि 'ज्ञान-दर्शन-चारित्र के गुण का भेद आत्मा नहीं है'—परंतु उसका ऐसा अर्थ नहीं है कि-आत्मा में ज्ञान-दर्शन-चारित्रादि गुण-पर्यायें विद्यमान ही नहीं। शुद्ध गुण-पर्यायों से अभेद आत्मा है, उसमें भेद करने से आत्मा अनुभव में नहीं आता; अनुभूति में भेद दिखते ही नहीं, अभेदरूप परमार्थ आत्मा एक ही अनुभव में आता है। जैसे यहाँ (१८वें बोल में) गुणभेद का निषेध किया, उसीप्रकार (१९वें बोल में) शुद्धपर्याय में भी समझना। 'यह शुद्धपर्याय और यह आत्मा' ऐसा भेद धर्मी की दृष्टि में नहीं है, इसलिये कहा कि पर्यायरूप लिंग से-भेद से परमार्थ आत्मा का ग्रहण नहीं होता, पर्याय के भेद को वह छूता नहीं। इसके बाद अंतिम २०वें बोल में, परमार्थरूप आत्मा की अनुभूति से जो पर्याय हुई, वह शुद्धपर्याय आत्मा ही है—इसप्रकार अभेददृष्टि से आत्मा को शुद्धपर्याय कहा। यह अभेददृष्टि की सूक्ष्म बात है।

जैसे, गुण के भेद में अभेद आत्मा की अनुभूति नहीं होती, वैसे पर्याय के भेद में अभेद आत्मा की अनुभूति नहीं होती, एवं उसीप्रकार 'मैं द्रव्य हूँ-द्रव्य हूँ'—ऐसे भेद से भी अभेद आत्मा की अनुभूति नहीं होती, अतः आत्मा को 'द्रव्य से भी अनालिढ ऐसा शुद्धपर्याय' कहा। इसप्रकार अंतिम (१८-१९-२०) तीन बोल के द्वारा गुण-पर्याय तथा द्रव्य के समस्त भेद के

विकल्पों से पार शुद्ध आत्मा दिखाया,—वही धर्मात्मा की दृष्टि का विषय है, और वही परमार्थरूप आत्मा है। बीसों अर्थ द्वारा उसी का स्वरूप समझाया है।

दृष्टि का विषय अभेद है। अतएव द्रव्य-गुण-पर्याय के किसी भेद का स्वीकार वह नहीं करती, निर्विकल्प आत्मा को ही वह ग्रहण करती है। श्रीगुरु अतिशय प्रमोदपूर्वक बारबार सम्यग्दर्शन की गंभीरता दिखाकर कहते हैं कि अनुभव के समय द्रव्य-गुण-पर्याय का कोई भेद लक्ष में नहीं रहते, भेद दृष्टि में नहीं आते; किंतु फिर भी आत्मा में उनका अभाव नहीं है। आत्मा में गुण-पर्याय तो है ही, परंतु उसके भेद का लक्ष रहे, तब तक निर्विकल्प अखंड आत्मा की अनुभूति नहीं होती। गुण है—परंतु उसका ग्रहण नहीं है, अर्थात् गुणभेद के लक्ष से अखंड आत्मा का ग्रहण नहीं होता—अनुभव नहीं होता। भेद को अभेद में समाकर एक वस्तु का अभेदरूप अनुभव—यही धर्मात्मा की अनुभूति है। 'धर्मी की अनुभूति का रहस्य बहुत ऊंडा है।'

अभेद-वस्तु सामान्य की अपेक्षा से द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों उसके विशेष हैं—अंश है-भेद है। इन भेदों के द्वारा अभेदरूप शुद्ध आत्मा का ग्रहण नहीं होता—यह बात अंतिम तीन बोल में आचार्यदेव ने समझाकर अनुभूति के रहस्य का उद्घाटन किया है। यह समझने से आत्मा को सम्यग्दर्शन तथा आत्म अनुभव होता है।

ऐसा अनुभव करने के लिये बहुत धैर्य एवं बहुत गंभीरता चाहिये; और उसका फल भी कोई अपूर्व महा आनंदरूप है। विनयपूर्वक जिसका स्वरूप सुनते हुए भी हर्ष से मुमुक्षु के रोमांच उल्लसित हो जाय, तब फिर उसके वेदन से असंख्य-प्रदेश में अतीन्द्रिय आनंद का जो रोमांच हो—उसका तो क्या कहे ? अंतर में अनुभव हो सके, ऐसी यह चीज़ है।

परमार्थरूप आत्मा का स्वरूप—जिसको स्वज्ञेय बनाने से सम्यग्दर्शन हो और प्रशमरस झरने लगे—उसकी यह बात है। ऐसे आत्मा को दृष्टि लेकर, स्वज्ञेय बनाकर अनुभव करने से आनंदमय शुद्धपर्याय हुई—अभेदरूप से वह आत्मा ही है। 'मैं द्रव्य, मैं गुण'—ऐसा भेद अनुभूति में नहीं है। शुद्ध आत्मा स्वयं ही निरपेक्षरूप से शुद्धपर्यायरूप अभेद-परिणत हुआ है, अतः आत्मा स्वयं शुद्धपर्याय है; उसके वेदन में द्रव्य-गुण भी अभेद है, परंतु 'यह द्रव्य, यह गुण, यह पर्याय'—ऐसे भेद का अवलंबन (ग्रहण) उसमें नहीं है। अतः

'शुद्धपर्याय' के देखने से अभेदरूप से आत्मा ही दिखता है। शुद्धपर्यायरूप हुआ कौन? क्या द्रव्य-गुण से वह जुदी है? द्रव्य-गुण से अभेद होकर वह शुद्धपर्याय परिणमी है, अतः अभेददृष्टि से उसको आत्मा ही कहते हैं। 'क्या आत्मा पर्याय है?'—हाँ, आत्मा स्वयं शुद्धपर्याय है—जो आनंद का स्वसंवेदन हुआ, वह मैं ही हूँ—ऐसा धर्मी जानते हैं, अनुभव करते हैं। 'आनंद की जो अनुभूति हुई-इतना ही मैं आविर्भूत हुआ'—यही भूतार्थ का आश्रय है। उसे सत्यार्थ आत्मा कहा।

वाह, देखो यह संतों की अनुभूति के गंभीर रहस्य! स्वोन्मुख होकर अतीन्द्रिय आनंद के वेदनरूप जो शुद्धपर्याय; उसरूप परिणत आत्मा जानते हैं कि यह शुद्धपर्याय मैं हूँ। वहाँ पर अभेदरूप से उसमें द्रव्य-गुण का स्वीकार आ ही गया है—क्योंकि उसी में एकाग्र होकर पर्याय शुद्ध हुई है। 'आत्मा शुद्धपर्याय है'—ऐसा स्वीकार कौन कर सकता है?—जिसको अंतर्दृष्टि हुई है—ऐसा धर्मी ही उसका स्वीकार करता है; शुद्धपर्याय जिसके विद्यमान नहीं—वह इस बात का यथार्थ स्वीकार नहीं कर सकता। पर्याय असत् नहीं है, वह भी सत् का अंश है।

'आत्मा शुद्धपर्याय है।' 'मैं द्रव्य हूँ, मैं सामान्य हूँ'—इत्यादि विकल्परूप लिंग के द्वारा उसका ग्रहण नहीं होता, अतः आत्मा अलिंगग्रहण है। जैसे, पर्याय के या गुण के भेद के विकल्प द्वारा आत्मा का ग्रहण (अनुभव) नहीं होता, वैसे 'सामान्य में से विशेष पर्याय आई, मैं सामान्य द्रव्य हूँ'—ऐसे भेदरूप लिंग से भी आत्मा का ग्रहण (अनुभव) नहीं होता। अहो, चैतन्यतत्त्व की अनुभूति द्रव्य-गुण-पर्याय के भेदों से पार है, 'प्रत्यक्ष-ज्ञाता' होकर आत्मा अपने आपका स्वसंवेदन करता है, अतीन्द्रिय-प्रत्यक्षज्ञान से उसका ग्रहण होता है—ऐसा दिखाकर आत्मा की अनुभूति का वैभव आचार्यदेव ने खोल दिया है।—स्वानुभव-प्रत्यक्ष से साधर्मीजनों उसको प्रमाण करजो।

अहा, स्वानुभूति के रहस्य खोलकर श्रीगुरुओं ने महान उपकार किया है।

ज्ञानी के ज्ञान की अलौकिक लीला

'क्या धर्मात्मा के भी दु:खवेदन होता है?'—एक जिज्ञासु के ऐसे प्रश्न के समाधानरूप जो स्पष्टीकरण गुरुदेव ने किया, वह यहाँ दिया जाता है।

धर्मात्मा के सम्यक्त्वादिरूप जो ज्ञानचेतना है, उसमें तो चैतन्य की अतीन्द्रियशांति का ही वेदन है; किन्तु उसे भी भूमिका के अनुसार जितना कषाय है (अशुभ या शुभ), उतना दु:खवेदन भी है; और वह धर्मी स्वयं भी सम्यग्ज्ञान के द्वारा यह जानते हैं कि मेरी पर्याय में इतना अपराध (-कषाय) है और उसका दु:ख भी वेदन में आता है। क्या कषाय का वेदन कभी सुखरूप होगा?—कभी नहीं। हाँ, उसके वेदन के समय भी ज्ञानी की ज्ञानचेतना में आनन्द का वेदन चल ही रहा है, उसको मुख्य करने पर यह कह सकते हैं कि ज्ञानी को दु:ख का वेदन नहीं है; ज्ञानचेतना कषाय से जुदी ही रहती है।

इसप्रकार साधक की परिणति में सुख तथा दु:ख (ज्ञानचेतना तथा कषाय) दोनों का अस्तित्व एकसाथ विद्यमान है; एक पर्याय में एकसाथ रहते हुए भी भाव से दोनों की अत्यंत भिन्नता है। ज्ञान और कषाय जुदे हैं—ऐसी भिन्नता को ज्ञानी ही पहचानते हैं।

चतुर्थगुणस्थान में ज्ञानी को सम्यक्त्व की अपूर्व शान्ति के साथ तीन कषाय भी विद्यमान है, और ज्ञानी उस कषाय को दु:ख जानते हैं; उस पर्याय का कर्तृत्व-भोक्तृत्व भी उसी जीव में ही है। यह बात सही है कि दृष्टि अशुद्धता का या दु:ख का स्वीकार नहीं करती; परंतु सम्यग्ज्ञान यदि उस कषाय-दु:ख को दु:खरूप अपने में नहीं जानता है तो वह उससे छूटने की (हटने की) चाहना क्यों करता है? चैतन्य की अतीन्द्रिय शांति का स्वाद भी धर्मी ने चखा है और इतनी शांति का वेदन उसे निरंतर रहता है।

अहा, साधक जीव में एकसाथ दो धारायें—ज्ञानधारा एवं कर्मधारा दोनों वर्तते हैं, किंतु उसमें जो ज्ञप्तिधारा है, वह कर्मधारा से अत्यंत जुदी है; दु:ख अपनी पर्याय में विद्यमान

है—ऐसा जानती हुई भी ज्ञानचेतना उससे भिन्न रहती है—यह ज्ञानी के ज्ञान की अलौकिक लीला है—जो अतीन्द्रिय आनंद देती है।

सिद्धांतसूत्रों में गुणस्थान के अनुसार देखा जाय तो, सम्यग्दर्शन के बाद भी चौथे से लेकर दशवें गुणस्थान तक जो-जो गुणस्थान में ज्ञानावरणादि छह कर्म का, सात कर्म का या आठ कर्म का जितना-जितना बंधन है, वहाँ पर इतना-इतना कषायभाव भी जीव के विद्यमान है, और यह भाव स्वयं दुःखरूप है, उसका स्वाद दुःखरूप है और उस भाव का परिणमन उसी जीव में ही होने से वही उसका कर्ता-भोक्ता है। उस समय उसके श्रद्धा-ज्ञानादि भाव जो शुद्ध वर्तता है, उस शुद्धभाव में रागादि का या दुःख का कर्तृ-भोक्तृत्व नहीं है, उस सम्यक्त्वादि के साथ उतना अतीन्द्रियसुख भी उसे निरंतर रहता है।

इसप्रकार धर्मी जीव के अपूर्ण दशा में शुद्धता एवं अशुद्धता, सुख एवं दुःख, मोक्ष का साधकभाव एवं बाधकभाव—ऐसे दोनों तरह के भाव विद्यमान रहा करते हैं;—अज्ञानी के लिये वह आश्चर्य की बात है, क्योंकि दोनों धारा का भिन्न-भिन्न स्वरूप उसकी समझ में नहीं आता। परंतु निर्मल दृष्टिवाला भेदज्ञानी तो ऐसे दोनों प्रकार को एकसाथ देखकर भी विमोहित नहीं होता।

आचार्यदेव समयसार-कलश २७३-२७४ में कहते हैं कि—एक ओर से देखने पर आत्मा में कषाय का क्लेश दिखता है, और दूसरी ओर से देखने पर शांति दिखती है; एक ओर से देखने पर भव की पीड़ा दिखती है, और दूसरी ओर से देखने पर मुक्ति का भी स्पर्श हो रहा है।—इसप्रकार दोनों धाराएँ साधक के विद्यमान होने पर भी, आत्मा का अद्भुत से भी अद्भुत स्वभाव-महिमा जयवंत है।

[पूज्य गुरुदेव के प्रवचन में साधकदशा की अभी यह स्पष्टता आई थी; इसके पहले भी आत्मधर्म में इस विषय में बहुत अच्छा स्पष्टीकरण विस्तारपूर्वक आ चुका है।

वीर निर्वाणमहोत्सव में वीर बालकों का उत्साह

ढाई हजारवर्षीय-वीरनिर्वाण महोत्सव में वीर बालकों ने ढाई हजार पैसे (२५,००) बाल विभाग में भेजे हैं, उनकी यादी—

६१३ वसंतराय अमीचंद जैन —
६१४ सरोजबेन प्रतापराय जैन, नागपुर
६१५ सुनील-समीर-तुषारकांत जैन, केनेडा
६१६ हर्षदराय मूलचंद शाह, कलकत्ता
६१७ कंकुबेन जैन, सोनगढ़
६१८ वसंत गोकलदास जैन, महुवा
६१९ सोनलबेन अनंतराय जैन, जलगाँव
६२० भरतचंदजी जैन, शहदरा, दिल्ली
६२१ अत्तरसेनजी जैन, शहदरा, दिल्ली
६२२ मोहनलालजी जैन, शहदरा, दिल्ली
६२३ मोहनलालजी जैन, शहदरा, दिल्ली
६२४ दयाचंदजी जैन, शहदरा, दिल्ली
६२५ राजकुमारजी जैन, शहदरा, दिल्ली
६२६ सोहनलालजी जैन, शहदरा, दिल्ली
६२७ केवलरावजी जैन, शहदरा, दिल्ली
६२८ चंदुलाल जैन, शहदरा, दिल्ली
६२९ विपुल प्रकाशचंद्र जैन, दिल्ली
६३० रवीचंद उगरचंद सेठ, अहमदाबाद
६३१ हेमंतकुमार वसंतलाल गाँधी, मुलुन्द
६३२ हितेशकुमार वसंतराय जैन, वांकानेर
६३३ राजेशकुमार नटवरलाल शाह, जलगाँव
६३४ सुलोचनाबेन नागरदास गाँधी, भावनगर
६३५ स्व. मनसुखलाल छोटालाल, सोनगढ़
६३६ देवेशकुमार प्रवीणचंद्र जैन, सोनगढ़
६३७ सुमतिचंद नेमचंद जैन, उदेपुर
६३८ हीरालाल केवलचंद जैन, आनंदपुर
६३९ मुक्ताबेन दबे, सोनगढ़
६४० शीवलाल रेवाशंकर जैन, सोनगढ़
६४१ जयंतिलाल हीराचंद कामदार, सोनगढ़
६४२ चेतन चंद्रकांत शाह, बम्बई
६४३ चंद्रकांत उजमशी शाह, बम्बई
६४४ सुरुचीबेन चंद्रकांत शाह, पार्ला
६४५ हिम्मतलाल छोटालाल जोबालीया, सोनगढ़
६४६ बसंतलाल प्रभुदास जैन, बम्बई
६४७ कुंदनलाल वसंतलाल जैन, बम्बई
६४८ दिपेनभाई वसंतलाल जैन, बम्बई
६४९ लीलाबेन वंसतलाल जैन, बम्बई
६५० सौ. सुभद्राबेन डाह्यालाल जैन, अहमदाबाद
६५१ बेनकुंवरबेन जयंतिलाल भणसाली, सिहोर
६५२ प्रेममोतीबेन जैन, दिल्ली
६५३ जयश्रीबेन प्राणलाल जैन, लींबडी
६५४ मधुकांता हरेशकुमार जैन, बम्बई

[आत्मधर्म प्रचार तथा बालविभाग में आई हुई अन्य रकम]

रुपया	नाम / गाँव
५१)	खीमचंद छोटालाल जोबालीया, सोनगढ़
२०)	धनजीभाई लहेरचंद जैन, बिंछीया
११)	कांताबेन दवे, सोनगढ़
२१)	मरघाबेन मणिलाल शाह, सोनगढ़
११)	महालक्ष्मीबेन जैन, अहमदाबाद
११)	छबलबेन गाँधी, सोनगढ़
१११)	कसुंबाबेन वोरा, कलकत्ता
५१)	कांताबेन वोरा, कलकत्ता
५१)	ज्योत्स्नाबेन C/o सुरेश अेन. भायाणी, कांदीवली
५१)	रजनीकांत छोटालाल शाह, बम्बई
२१)	मरघाबेन मणिलाल शाह, सोनगढ़
५०)	फूलचंद चतुरभाई शाह, सुरेन्द्रनगर
५१)	जेकुंवरबेन (मयाचंद एंड संस), कलकत्ता
५१)	मनसुखलाल छोटालाल जोबालीया, सोनगढ़
११)	मुक्ताबेन दवे, सोनगढ़
५१)	चुनीलाल हठीसंग शेठ, बम्बई
११)	संवर अमीचंद मालदे, बम्बई
११)	निर्जरा निकेतन भायाणी, बम्बई
२३६)	किशोरचंद प्रेमचंद शाह, नैरोबी
२३६)	सुशीलाबेन किशोरचंद शाह, नैरोबी
२३६)	सुशीलाबेन पंकज शाह, नैरोबी
१०१)	सुरेश एन भायाणी, कांदीवली
२१)	प्रीाबेन तथा इंदिराबेन, जमशेपुर
२१)	प्रवीणचंद्र जयंतिलाल भणसाली, सिहोर
५१)	मानवंतीबेन हिम्मतलाल जैन, बम्बई
४०१)	सुमेरचंद नेमीचंदसा जैन, मलकापुर
५१)	हीराबेन सोमचंद जैन, तलोद
३३)	मुकुंद चेतनाबेन पंकजभाई जैन, जामनगर
४०१)	वासंतीबेन गुणवंतराय भायाणी, बम्बई

[दिनांक २६-८-७५ तक]

पुस्तक मंगाईये : तारीख २० तक कमीशन

पर्यूषण के उपलक्ष में श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट (सोनगढ़) द्वारा प्रकाशित हिन्दी-गुजराती सभी साहित्य के ऊपर दस प्रतिशत कमीशन दिया जायेगा।

पता :—श्री जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (३६४२५०)

भगवान महावीर की मंगलमूर्ति के निर्माण की शिल्पकला का प्रयोग

[१. बाह्यस्थापना में]

भगवान महावीर की वीतरागभाव एवं सर्वज्ञतासूचक सुंदर मूर्ति का निर्माण करने के लिये, एक अच्छी धवल निष्कलंक संगमरमरीय शिला लीजिये, और प्रारूप को (मूलवस्तु की याने महावीर की मुद्रा को) सामने रखकर, पैनी छैनी को ऐसे ढंग से अत्यंत सावधानीपूर्वक चलाइये कि शिला में से आवश्यक अंश कटता जावे और महावीर की वीतरागमुद्रा उभरती जावे... धैर्यपूर्वक ऐसा करते ही रहो... बस, महावीर की मंगलमूर्ति का निर्माण हो जायेगा जिसका दर्शन महावीर होने की प्रेरणा देता रहेगा।

[२. अंतरंग भाव में]

भगवान महावीर जैसी वीतरागता तथा सर्वज्ञतारूप सुंदर मूर्ति का अपनी आत्मपर्याय में निर्माण करने के लिये, चैतन्य धातुमय द्रव्य-पर्यायस्वरूप आत्मशिला लीजिये; सिद्धालय-स्थित महावीर को अर्थात् शुद्ध आत्मा को आदर्श के रूप में दृष्टि में-लक्ष में रखकर, 'मैं ऐसा हूँ... मैं ऐसा हूँ...' इसप्रकार निरंतर शुद्धात्मा में सावधान रहकर भेदज्ञानरूपी तीक्ष्ण प्रज्ञाछैनी को ऐसे चलाइये कि अपना असली स्वरूप उभरता जावे... और अनावश्यक अंश (राग-द्वेषादि) कटता जावे। धैर्यपूर्वक ऐसा करते ही रहो... बस, भावशिल्पी बनकर अपने आत्मा को स्वयं महावीर बना दो।

यह है भगवान महावीर की मंगलमूर्ति के निर्माण की कला!
यह है ढाई हजारवर्षीय-महावीर निर्वाणोत्सव का मूलभूत कार्य!
आईये... निर्वाण के लिये महावीर-निर्माण में लग जाइये।

(फूलचंद 'पुष्पेन्द्र', खुरई)

जातिस्मरणज्ञानपरिणत आत्मज्ञ बहिनश्री चंपाबहिन

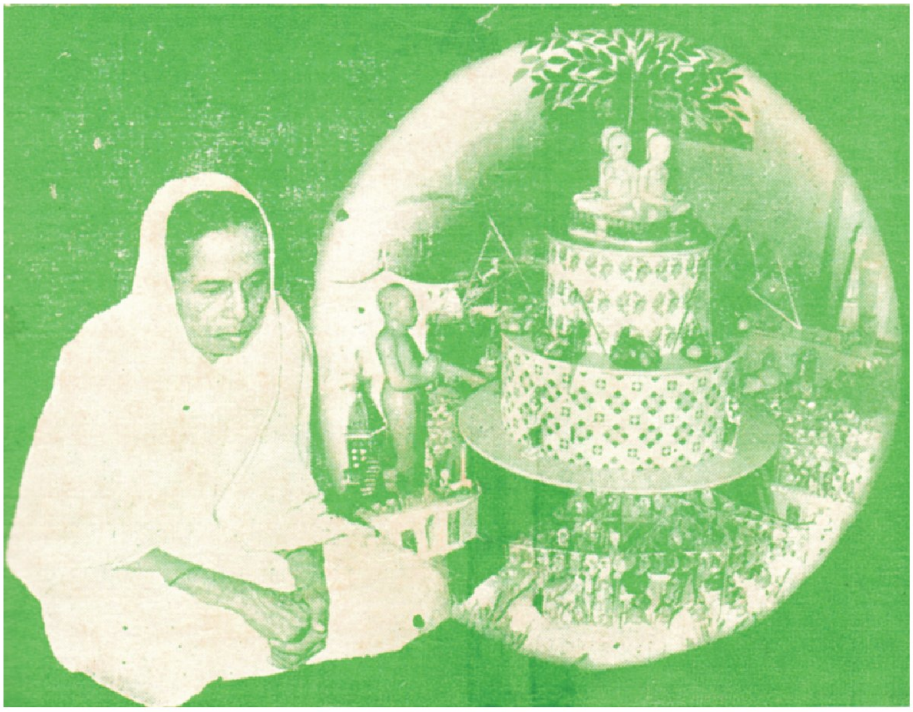

मंगलकारी 'तेज' दुलारी पावन मंगल मंगल है,
मंगल तव चरणों से मंडित अवनी आज सुमंगल है;
मंगल शिशुलीला अति उज्ज्वल, मीठे बोल सुमंगल हैं,
शिशुवय का वैराग्य सुमंगल, आतम-मंथन मंगल है;
आतमलक्ष लगाकर पाया अनुभव श्रेष्ठ सुमंगल है।.... मंगलकारी०
सागर सम गंभीर मति-श्रुत ज्ञान सुनिर्मल मंगल है,
समवसरण में कुंद प्रभु का दर्शन मनहर मंगल है;
सीमंधर-गणधर-जिनधुनि का स्मरण मधुरतम मंगल है।... मंगलकारी०

'हम तो अपनपे आत्मा का करने के लिये आये हैं (अर्थात् हमें यह सब उपाधि प्रतीत होती है।)'

—पूज्य बहिनश्री चंपाबहिन

'बहिन! लोकों को भाव आए,... तुम्हारे देखते रहना,... तुम्हारे क्या है?... लोगों को (जन्मदिवस मनाने के) भाव तो आए न! मेरे हिसाब से तो लोग जो कुछ करते हैं, वह थोड़ा है।'

—पूज्य गुरुदेव

तुम ज्ञानानंदस्वरूपी हो

[दस मूरख की तरह अपने मत भूलो]

'कहाँ आत्मा होगा?' यह क्या प्रश्न पूछने लायक है।
प्रश्न जहाँ से उठा, वहीं तो स्वयं आत्मा ज्ञायक है॥
निज को निज का ज्ञान न हो, यह अनसमझी है, धोखा है।
इससे बड़ा ताज्जुब क्या हो, जलने जल को सोखा है॥१॥

देह विनाशी मैं अविनाशी, देह दृश्य, मैं दृष्टा हूँ।
पुद्गल रूपी देह अरूपी मैं अपना ही सृष्टा हूँ॥
तन संयोगी, इंद्रियगोचर, कृत्रिम, गोरा-काला है।
किंतु आत्मा सूक्ष्म, अतीन्द्रिय, निर्मल और निराला है॥२॥

एक बार की बात सुनो, दस मूर्ख गाँव से जाते थे।
बीच मार्ग में नदी मिल गई, तैर-तैरकर आते थे॥
पहुँचे पार दूसरी, बोला एक, 'समझ कुछ आई जी।
कहीं डूब तो नहीं गया हममें से कोई भाई जी'॥३॥

ऐसा कहकर लगा दूसरों को गिनने, खुद को भूला।
नौ ही निकले गिनती में, अब तो असमंजस में झूला॥
बोला, 'लगता है हममें से एक आदमी खोया-सा।
गिना दूसरे ने नौ ही निकले, वह भी था रोया-सा॥४॥

क्रम-क्रम से सबने गिनती की, औरों की, खुद को भूले।
नौ ही आये संख्या में जब, सबके हाथ-पाँव फूले॥
एक विवेकी राहगीर उनकी उलझन समझा, आया।
पंक्ति बनाकर खड़ा किया सबको, गिनकर के बतलाया॥५॥

जब दस निकले, छूट गया भ्रम, उसी तरह से लालाजी।
अज्ञानी जीवों ने तो अपनत्व देह में पाला जी॥
ज्ञानी उनको समझाते हैं, 'तुम अद्वैत अरूपी हो।
राग तुम्हारा रूप नहीं, तुम ज्ञानानंद स्वरूपी हो'॥६॥

[श्री प्रसन्नकुमार 'सेठी', 'वीरवाणी' से साभार]

प्रकाशक : श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र) (३६३)
मुद्रक : मगनलाल जैन, अजित मुद्रणालय, सोनगढ़ (सौराष्ट्र) प्रति ३०००